पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 42 सितम्बर-अक्टूबर, 2012

संपादक

भारत भारद्वाज

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता
अंक : 42 सितम्बर-अक्टूबर, 2012

प्रकाशक :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442005
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव
email : bpsjnu@gmail.com
फोन : 07152-232943 मो. : 08055290240

प्रचार-प्रसार : रामप्रसाद कुमरे
email : ram.kumre81@gmail.com
फोन : 07152-232943 मो. : 09552114176, 09406546762

© संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ` 20
वार्षिक सदस्यता : ` 120
चेक/ड्रॉफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक ` 145 और द्वैवार्षिक ` 265 म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा को भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं। पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें। रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, (मो. 09212796256)।

प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232943

संपादकीय संपर्क :
211, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
मो.-09313034049 (संपादकीय)
टेली.-011-42151470

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Gandhi Hills, Wardha-442005 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (09212796256)

आवरण : जैन संप्रदाय के महत्वपूर्ण ग्रंथ 'कल्पसूत्र' की पांडुलिपि के दो पृष्ठ
प्राप्ति स्थान : गुजरात / चित्रकार : अज्ञात / काग़ज़ पर जलरंगों से चित्रित कृतियों का रचनाकाल : 15वीं शताब्दी उत्तरार्ध से 16वीं शताब्दी पूर्वार्ध। **ऊपरी पृष्ठ :** महावीर के जन्म के छठवें दिन (छठ) का उत्सव। **निचला पृष्ठ :** बायें चित्र में नवजात 'अरिष्टनेमि' माँ एवं परिचारिका के साथ। दाहिने चित्र के ऊपरी हिस्से में अरिष्टनेमि विवाह के लिए घोड़े पर सवार और प्रतीक्षारत भावी वधू राजीमती का हाथ में दर्पण लेकर शृंगार। चित्र के निचले हिस्से में भोज के लिए वध के उद्देश्य से लाये गए पशुओं को देखकर व्यथित अरिष्टनेमि की बिना विवाह किए रथ से वापसी; कालांतर में संन्यास।

आवरण परिकल्पना एवं संयोजन : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय/धरोहर	: **आचार्य शुक्ल/श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', एम.ए.**/ भारत भारद्वाज	4
उपन्यास	: **ऐतिहासिक उपन्यास में नई सक्रियता का श्रेय**/ मधुरेश	7
	: **बर्फ में पिघलते प्रेम और राजनैतिक उथल-पुथल की व्यथा कथा 'स्नो'**/ सुभाष शर्मा	10
	: **रूपतिल्ली की कथा : एक नजर**/ मेहरबान राठौर	13
	: **अभेद्य अंधेरा**/ रजनी गुप्त	15
कहानी	: **नीच ट्रेजेडी का बेचेन अनुभव**/महेश कटारे	17
	: **औरत के हिस्से का आसमान मांगती कहानियां**/डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ	19
	: **यथार्थ पर आदर्श की चाशनी**/उर्मिला शुक्ल	21
कविता	: **कल की कविता और आज का समय**/मनोज मोहन	23
	: **देर से आईं रागयुक्त रसमयी कविताएं**/योगेश प्रताप शेखर	24
	: **कविता का आसमान**/अर्चना त्रिपाठी	26
	: **भूमंडलीकरण और स्थानीयता के तनाव पर रची कविता**/विजेंद्र नारायण सिंह	27
	: **कहने को जो बहुत कुछ है फिर भी**/शशिभूषण सिंह	29
	: **तद्भव समय में उम्मीद के स्फुलिंग**/सुनीता गुप्ता	31
आलोचना	: **ईमानदार और प्रतिबद्ध आलोचना की वापसी**/अजय कुमार पांडेय	33
	: **त्रिकाल दृष्टि**/हरदयाल	35
	: **एक आलोचक के विविध आयाम**/सुधांशु शेखर	37
स्त्री-विमर्श	: **स्त्री, समकाल और कविता**/रामशंकर द्विवेदी	40
	: **स्त्री-विमर्श : भारतीय परिप्रेक्ष्य**/धीरज कुमार मिश्रा	41
गांधी विमर्श	: **संकट के बरक्स**/श्रीभगवान सिंह	44
यात्रा	: **देश दर्शन के रोचक आख्यान**/सुभाष सेतिया	47
लोकवृत्त	: **ईसुरी और हिंदी समाज : एक आलोचना**/प्रेमशंकर सिंह	49
विवाद	: **प्रेमचंद और प्रगतिशीलों की तानाशाही**/कमल किशोर गोयनका	51
सात समंदर पार	: **दिव्या माथुर की कहानी 'पंगा' का अंतर्पाठ**/साधना अग्रवाल	53
हस्तक्षेप	: **सोनिया गांधी : कुछ कही, कुछ अनकही**/अनंत विजय	55

आचार्य शुक्ल

श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', एम.ए.

(इस बार फिर संपादकीय की जगह धरोहर के अन्तर्गत 1934 ई. की 'माधुरी' में प्रकाशित भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' एम.ए. द्वारा 'आचार्य शुक्ल जी' पर लिखा संस्मरण दिया जा रहा है। —संपादक)

आठ-नौ वर्ष हुए, मध्यप्रान्त के एक प्रमुख साहित्यिक, पत्रकार और कवि से हिंदी-साहित्य की वर्तमान स्थिति के संबंध में बातें हो रही थीं। गद्य और समालोचना की चर्चा छिड़ी। मैंने कुछ गर्व और उल्लास के साथ कहा—''हिंदी-साहित्य के गद्य और समालोचना में से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कृतियां हटा ली जायँ तो क्या बच जाता है? गद्य में गंभीर चिन्तन और शिष्ट शैली का समावेश पहले-पहल शुक्लजी के द्वारा ही हुआ : और समालोचना क्या वस्तु है, उसका क्या स्वरूप है, इसका पहले-पहल ज्ञान शुक्लजी के द्वारा ही हिंदी जाननेवालों को हुआ। वाह-वाह और छिः-छिः की पद्धति से ऊँचे उठकर शुक्लजी ने आलोच्य विषय की तह में प्रवेश कर पहले-पहल हृदय की खोज की और उसे बड़े ही भाव-पूर्ण और प्रभावमय शैली में हिंदी-पाठकों के सम्मुख रक्खा। कविता में भी प्रकृति के विराट रूप के साथ विश्व हृदय तन्मयता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव शुक्लजी ने ही रक्खा। प्रकृति के नाना रूपों से मानव-हृदय का कैसे मेल खाता है और उसमें कौन-सा मंगल-विधान है, इसका व्यवस्थित उल्लेख शुक्लजी ने ही अपनी कविताओं में पहले-पहल किया। दार्शनिक और कवि, लेखक और समालोचक, एक साथ ही शुक्लजी में आदर्श रूप में प्रकट हुए और हिंदी-साहित्य ने आज अपने इस सेवक के कारण ही विश्व-साहित्य में अपना स्थान बना लिया है। शुक्लजी की कृतियों को देखते हुए बस इतना ही कहा जा सकता है कि अंगरेजी साहित्य में मैथ्यू ऑर्नाल्ड (Mattheu Arnold) ने जो किया है, वही और उससे बढ़कर शुक्लजी ने हिंदी-साहित्य के उत्थान और अभ्युदय के लिए किया है। शुक्लजी मेरी दृष्टि में Arnold of the east हैं। इस विषय पर मैं आज जितनी ही गंभीरता से विचार करता हूँ, उतनी ही यह बात और भी स्पष्ट होने लगती है।

आचार्य शुक्लजी की बहुमुखी प्रतिभा को देखते हुए इनकी साहित्य-सेवा पर जब दृष्टि जाती है, तो हृदय कृतज्ञता के ऋण से झुक जाता है। इस एक विद्वान् ने उतना किया, जितना शताब्दियों के सहस्त्रों साहित्यिक मिलकर नहीं कर सके। हिंदी-गद्य को तो शुक्लजी ने एक संयत शैली और सुव्यवस्थित रूप दिया। आचार्य शुक्लजी ने दर्शन को साहित्य का आधार बनाकर अपने गंभीर चिन्तन को एक बड़े ही ओजपूर्ण ढंग से हिंदी-संसार के सामने रक्खा। शुक्लजी ने गद्य में जो कुछ भी लिखा, वह उनके प्रगाढ़ चिन्तन और मनन का ही परिणाम था! Thinker के रूप में शुक्लजी के समान हिंदी-साहित्य में कोई हुआ ही नहीं। लिखने के पहले शुक्लजी अपने अन्तस् के आलोक में समग्र सृष्टि को अपने दृष्टिकोण से एक बार देख लेते हैं और इसीलिए उनका व्यक्तित्व उनके प्रत्येक शब्द में ओत-प्रोत है। शुक्लजी के लेखों को पढ़ने से यही प्रकट होता है कि किसी भी विषय को बहुत दूर तक और बहुत गंभीरतापूर्वक वह देखते-सोचते हैं। लिखते समय भी वह अपने चिन्तन की दिव्य मनोभूमि में ही विराजते हैं और शब्द आप ही आप कढ़ते जाते हैं।

शुक्लजी ने ऐसे-ऐसे अछूते विषयों पर लिखा जिन पर दूसरों को न साहस हुआ न हो सकता है। क्रोध, करुणा, श्रद्धा, भक्ति आदि ऐसे विषय थे, जिनकी समीक्षा के लिए मनोविज्ञान और दर्शन का ज्ञान अनिवार्य है, और इस प्रकार के उच्च ज्ञान के साथ-ही-साथ ऐसे शब्दों का बाहुल्य होना चाहिए जिनके द्वारा इन कठिन विषयों का सरलतापूर्वक प्रतिपादन किया जा सके। शुक्लजी के पास वैसा पारदर्शी ज्ञान भी था और वैसी गंभीर शैली भी। इसी से ऊपर कहा जा चुका है कि शुक्लजी ने जिन-जिन विषयों पर लेखनी चलाई, उन विषयों की छाया भी दूसरे नहीं छू सकते, उन्हें समझना और सीखना तो दूर की बात है।

समालोचना के क्षेत्र में तो शुक्लजी के कारण ही समालोचना 'समालोचना' कही जाने योग्य हुई। ''वाह-वाह, ले मारा, कलम तोड़ दी, कमाल हासिल है। वे खूब'' भी कोई समालोचना है? भठियारिनों की भाषा में साहित्य का सौष्ठव प्रकट करने की जो घृणित प्रथा हिंदी-साहित्य में जड़ जमा चली थी, उसका मूलोच्छेद करके शुक्लजी ने संयत शिष्ट और साधुशैली में आलोच्य विषय का प्रतिपादन किया—उसकी सुन्दरता को विस्तार के साथ सुझाया और उसकी भूलों पर भी ध्यान दिया। Art Critic के रूप में शुक्लजी हिंदी-साहित्य में बेजोड़ हैं। इसके दो कारण हैं। शुक्लजी के पास सुन्दर हृदय भी है और गंभीर मस्तिष्क भी। शुक्लजी हृदय से किसी वस्तु की सुन्दरता

की सराहना करते हैं, परन्तु उनका मस्तिष्क उन्हें सदा सचेत रखता है। जायसी, तुलसी और सूर के संबंध में शुक्लजी ने जो कुछ लिखा, वह अनूठा और अपने ढंग का एक है। वह जिस विषय पर लिखते हैं, उस पर अन्तिम शब्द (Final word) लिख देते हैं। उनके बाद जिन लोगों ने भी सूर, तुलसी और जायसी पर लिखा है सभी ने शुक्लजी की जूठन से ही संतोष कर लिया है। जायसी का तो शुक्लजी ने पुनरुद्धार ही नहीं, अपितु पुनरुज्जीवित कर दिया। शुक्लजी की भूमिका के पहले जायसी को कितने लोग जानते थे और जो लोग जानते भी थे वे 'सुधाकरी अर्थ' को ही। 'तुलनात्मक समालोचना' का आज दुनिया में बड़ा शोर है, परन्तु सच्ची तुलनात्मक समालोचना लिखना कितनी टेढ़ी खीर है! शुक्लजी का अंगरेजी, हिंदी, संस्कृत, फारसी और बंगला-साहित्य पर एक अपूर्व अधिकार है और इस अगाध ज्ञान के बल पर ही वह अधिकार के साथ लेखनी चलाते हैं। सूर, तुलसी और जायसी पर शुक्लजी ने जो कुछ लिखा, उस पर कोई आज तक Inprove नहीं कर सका। जहां-तहां से वाक्य नोचकर लोग 'अपना' बना लेते हैं; परन्तु जिन्हें आंखें हैं वे तो साफ देखते हैं कि यह सारा सामान शुक्लजी के घर से डाका डाला हुआ है। कहीं-कहीं तो शुक्लजी की कितनी ही बातें उन्हीं के शब्दों में ज्यों-त्यों अपनी पुस्तकों में लेकर हमारे कई ख्यातनामा साहित्य-निर्माता डकार गये हैं। कृतघ्नता और डाकेज़नी का दौरा हिंदी-साहित्य में जोरों पर है।

आये दिन भाषा-विज्ञान पर हिंदी में कुछ पुस्तकें लिखी जाने लगी हैं। वे बहुधा अंगरेजी पुस्तकों का भावानुवाद या छायानुवाद होती हैं। स्वयं लेखक को शब्दों के रूप और प्रत्यय का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है, परन्तु इसलिए कि प्रभुओं की कलम से वे बातें लिख दी गई हैं, इसलिए सिर आंखों पर रख ही लेनी चाहिए—वे ज्यों की त्यों उद्धृत कर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि जो स्वयं उनकी digest की हुई वस्तु नहीं है, वह दूसरे क्या समझें? विचारे 'भाषा-विज्ञान' के विद्यार्थी अध्यापक का मुंह देखते रह जाते हैं विशेषतः जब वही अध्यापक स्वयं अपनी ही लिखी पुस्तक पढ़ाते समय स्वयं ही उसकी सींग-पूंछ नहीं समझ रहा है। शुक्लजी का भाषा-ज्ञान आज हिंदी में किसी से भी ऊँचा है। जायसी की भूमिका में अवधी और खड़ीबोली तथा 'बुद्ध-चरित' की भूमिका में ब्रजभाषा, अवधी और खड़ीबोली का जो मार्मिक तुलनात्मक आलोचन और अनुशीलन शुक्लजी ने किया है, वह उनके अपार भाषा-ज्ञान का बहुत ही सुन्दर परिचायक है। शुक्लजी अपने ज्ञान का ढिंढोरा पीटना नहीं चाहते। वह सब कुछ हो सकते हैं, पर Pedant होना उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। वह अपने विषय में बड़े ही Shy हैं। जहां 'नवरत्न' और 'विनोद' की भूमिका में लेखकों ने अनावश्यक रूप में अपनी भी जीवनी अपनी ही कलम से लिख दी है, वहां शुक्लजी ने 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' में जायसी, तुलसी और सूर पर लिखी अपनी समालोचनाओं का बड़े ही संकोच के साथ नामोल्लेख-मात्र कर दिया है! भाषा-ज्ञान के संबंध में यही कहा जा सकता है कि शुक्लजी का देश की विविध भाषाओं के रूप और विकार के संबंध में जितना पक्का ज्ञान है, उतना शायद ही आज के किसी भी भारतीय Philologist कहाने वाले में हो।

रीति और अलंकारों के संबंध में शुक्लजी की कोई पुस्तक अभी प्रकाशित नहीं हुई है। एक पुस्तक रीति और अलंकारों पर लगभग 300 पृष्ठ की अधूरी लिखी पड़ी है; पर शुक्लजी उसे प्रकाशित नहीं कराना चाहते। इस संबंध में थोड़ी-सी झलक जायसी, तुलसी, सूर की भूमिका में मिलती है, जहां शुक्लजी ने अलंकार-विधान की चर्चा की है। वहां पता चलता है कि इस विषय के वह कितने ऊँचे मर्मज्ञ हैं। उनका रीति-अलंकार-ज्ञान संस्कृत-साहित्य के आधार पर होने के कारण बहुत ही प्रगाढ़ और गंभीर है। काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण, ध्वन्यालोक और चन्द्रालोक का बहुत पहले ही शुक्लजी ने मंथन कर लिया है। साथ ही अंगरेजी के अलंकारों का भी बहुत ही शुद्ध और व्यवस्थित ज्ञान शुक्लजी को है। रामायण में आये हुए अलंकारों की विवेचना करते हुए वह अंगरेजी के कई अलंकारों की समानता भी दिखलाते गये हैं।

रहस्यवाद के संबंध में दो शब्द। आज तो रहस्यवाद का दौरदौरा ही है। जिसे देखिए, वही रहस्यवादी बनकर 'अनन्त की ओर' चल देता है। कलम पकड़ने का शऊर नहीं है, पर हृत्तन्त्री के झंकार से व्याकुल 'कविजी' अपना 'मौन संगीत' अखबारों में प्रकाशित करा ही देते हैं। आजकल के अधिकांश रहस्यवादी (!) कविगण बाजारू प्रेम की पीर में पागल बने फिरते हैं और ज़मीन पर रहते हुए आकाश-कुसुम, इन्द्रलोक की परियों का स्वप्न देखते हैं। इन्हीं छोकरों में से कुछ उच्छृंखल

युवकों ने आचार्य शुक्लजी पर भी हमला किया। शुक्लजी साहित्य में उच्छृंखलता को सहन नहीं कर सकते। वे इन 'काष्ठ-कौशिकों' को समझाना चाहते हैं कि आंख खोलकर दुनिया को देखो और झूठे रहस्यवाद के फेर में पड़कर अपने जीवन और अमूल्य चरित्र को भ्रष्ट न कर बैठो। इन कथित (So-called) रहस्यवादियों को यह पता होना चाहिए कि आज बंगाल से साहित्य की जो हवा आई है, उसमें बीमारी और दुर्बलता के कीटाणु भरे पड़े हैं और हिंदी-साहित्य का स्वस्थ रूप उसके प्रभाव में न आये, इसके लिए हमें सजग हो जाना चाहिए। जिस रहस्यवाद को लेकर वे अपना पतन कर बैठे हैं, उससे जगाने के लिए शुक्लजी ने बार-बार चेष्टा की है। आज भी रहस्यवाद की परिभाषा जानने की जब आवश्यकता होती है, तो शुक्लजी की जायसी की भूमिका ही देखनी पड़ती है। इसके सिवा रहस्यवाद क्या है और साहित्य में इसका प्रवेश किस रूप में अभिनन्दनीय है, इसे जानने के लिए शुक्लजी का 'काव्य में रहस्यवाद' ग्रंथ देखना चाहिए। उसमें बहुत ही व्यापक रूप में, बहुत ही विस्तार के साथ अंगरेजी, फारसी और बंगला-साहित्य के स्वरूप का ज्ञान कराते हुए वर्तमान काव्य-धारा की समीक्षा की गई है। रहस्यवाद के सच्चे मर्म को शुक्लजी पहचानते हैं, इसीलिए जब साहित्य-क्षेत्र में Pedants and pretenders घुसना चाहते हैं तो शुक्लजी उनका शेर की खाल में सियार का रूप दिखाकर लोगों को आगाह कर देना चाहते हैं कि इन गिरहकटों से बचो—Take care_he bites!

कवि-रूप में शुक्लजी का प्रभाव हिंदी-साहित्य पर कम प्रतीत होता है। इसका मुख्य कारण है हिंदी-पाठकों के मनःक्षितिज की निम्नता। अब तक हिंदी में स्वस्थ काव्य के स्वरूप को बहुत कम लोग समझ पाये हैं। ज्वराक्रांत दुर्बल मनोभावों की चीख और वासना-मलिन मदान्ध कुत्सित चेष्टाओं को पालिश्ड भाषा में रखकर ही अब तक हिंदी-साहित्य के अधिकांश वर्त्तमान कवि अपनी ख्याति की ध्वजा फहरा रहे हैं। जनसाधारण की मनोवृत्ति तो अधोमुखी होती ही है। आजकल सिनेमा की ओर जो हमारी प्रवृत्ति हो रही है, वह हमारे दुर्बल अस्वस्थ मन के कारण। ठीक यही हाल कविता का भी रहा। कवि-सम्मेलनों में कविजी पधारते हैं—चितवन, चितचोर, केशराशि और रूपराशि की मदिरा में बेसुध होकर अपने दिल के फफोले उपस्थित जनता पर फोड़ते हैं और इधर से भी वाहवाह और करतलध्वनि की वर्षा हो पड़ती है। उनका कुत्सित मद और अहंकार अपना भोजन पाकर बढ़ता जाता है और वे विलासिता की उपासना को ही साहित्य की निर्मल साधना कहने लगते हैं। शुक्लजी तो उन कवियों में हैं, जिनकी रचनाएं हमारे हृदय को केवल पावन, उज्ज्वल और उन्नत ही नहीं बनातीं, अपितु समस्त चराचर में भावरूप से ओत-प्रोत कर देती हैं। शुक्लजी अपनी कविताओं में हमारे हृदय को जगाते और मस्तिष्क को उद्‌बोधित कर परम पुरुष की अनन्तरूप आभा का दर्शन करा देते हैं। सामने के संसार से आंखें मूंदकर अनन्त के प्रेम-विरह में छटपटानेवाले यह नहीं जानते कि सामने जो कुछ भी विश्व का रूप है, वह हमारे 'प्रियतम' का ही स्वरूप है और 'इस' से हटकर हम 'उस' को नहीं पा सकते। शुक्लजी की कविताएं हमारे हृदय पर पड़े हुए पर्दे को हटाकर समग्र रूप से भगवान् की छवि का दर्शन कराती हैं। वह भगवान्, जो वसुंधरा के कण-कण से हमारी ओर निहार रहा है और हमें इस विराट् रास में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित कर रहा है—संकेत दे रहा है— बुला रहा है।

जीवन की जटिल समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए शुक्लजी की कविताएं हमें उस उच्च दिव्य मनोभूमि में पहुंचा देती हैं, जहां सभी कुछ सत्यं शिवं सुन्दरं है। 'हृदय का मधुर भार' और 'रूपमय हृदय' हिंदी-साहित्य की अमर निधि हैं। 'बुद्ध-चरित' अपने ढंग का अकेला काव्य-ग्रंथ है। भाषा की दृष्टि से ब्रज-भाषा और खड़ीबोली दोनों में शुक्लजी का अक्षुण्ण अधिकार है और बड़ी ही सफलतापूर्वक आपकी लेखनी दोनों प्रवाह में अदा के साथ चलती है।

एक बात और लिखकर यह लेख समाप्त कर दूंगा। लंबी भूमिका, जिसमें कवि की कृतियों का सूक्ष्म सविस्तर गुण-दोष विवेचन हो—शुक्लजी ने ही पहले-पहल लिखी। जायसी, तुलसी और सूर पर लिखी उनकी भूमिकाएं इस पथ में प्रदर्शक रूप से हैं। अब तो साधारण लोगों में भी यह रोग-सा हो गया है कि वे अनावश्यक रूप से भी अपनी विद्वत्ता (!) का परिचय देने के लिए लंबी भूमिकाएं लिख मारते हैं और अनाप-शनाप जहां भी, जो कुछ भी वे जानते हैं या नहीं जानते, मंगनी-उधार लेकर लिख ही डालते हैं। ज्ञान-प्रदर्शन की इस मूर्खतापूर्ण शैली का अब अन्त होना चाहिए और इसे केवल अधिकारी पुरुषों के लिए ही छोड़ देना चाहिए। आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में अधिकारी-भेद तो है ही—मानना न मानना हमारे मन की बात है!

इस प्रकार गद्य-लेखक, निबन्ध-कर्त्ता, शैली-निर्माता, समालोचक, कवि और दार्शनिक रूप में आचार्य शुक्लजी ने हिंदी-साहित्य की वह सेवा की है, जो आर्नाल्ड से अंगरेजी साहित्य की न हो सकी। आर्नाल्ड के मुकाबले में तो अंगरेजी-साहित्य में लेखक और समालोचक हुए भी, पर हमारे इस आचार्य के मुकाबले में हिंदी-साहित्य में कौन है? आज सरसरी तौर से मैंने शुक्लजी की बहुमुखी प्रतिभा और साहित्यिक मनोभावों पर दृष्टिपात किया है—अगले लेखों में मैं उनकी एक-एक दिशा का सविस्तर अनुशीलन करने की चेष्टा करूंगा।

(हिंदी आलोचक प्रो. विजेन्द्र नारायण सिंह का 13 अगस्त, 2012 को मुजफ्फरपुर में आकस्मिक और असमय निधन हिंदी साहित्य की भारी क्षति है। प्रो. सिंह केन्द्रीय हैदराबाद वि.वि. में हिंदी विभाग के अध्यक्ष रह चुके थे और दिनकर पर इनकी कई किताबें हैं। वि.वि. और पुस्तकवार्ता परिवार की ओर से उन्हें हमारी हार्दिक श्रद्धाजंलि।)

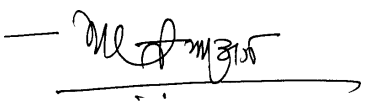

ऐतिहासिक उपन्यास में नई सक्रियता का श्रेय

मधुरेश

इतिहास की पृष्ठभूमि में लिखे जाने वाले उपन्यासों में सामान्यतः दो पद्धतियां प्रचलन में रही हैं। एक ओर ऐसे लेखक रहे हैं, विश्वभर में सब कहीं, जो इतिहास प्रसिद्ध घटना-प्रसंगों एवं पात्रों को अपनी रचना के केंद्र में रखकर चलते हैं। दूसरी ओर कहीं बड़ी संख्या उन लेखकों की है, जो अपनी रचना के केंद्र में अतीत प्रसिद्ध घटना-प्रसंग एवं पात्रों को रखकर उपन्यास का ढांचा खड़ा करते हैं। उन्हें लगता है कि इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं और पात्रों को आधार बनाकर रचना की काल्पनिक स्वायत्तता बाधित होती है। ऐसी स्थिति में वे न तो उन घटना-प्रसंगों और पात्रों की प्रचलित स्वीकृत छवि के बाहर जाने को स्वतंत्र होंगे और इस कारण कुछ मौलिक रच पाने की स्थिति में भी प्रायः नहीं होंगे। अच्छा-से-अच्छा प्रामाणिक शोध और साक्ष्यों पर आधारित उपन्यास भी इतिहास का विकल्प नहीं हो सकता। ऐतिहासिक उपन्यास में कल्पना के रचनात्मक उपयोग की एक विशिष्ट भूमिका होती है।

दूसरी ओर राहुल सांकृत्यायन और रांगेय राघव जैसे लेखक हैं, जो इतिहास में परिचित पात्रों और रूढ़ घटना-प्रसंगों को आधार बना कर लिखने से बचते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन की कठिनाई की ओर संकेत करते हुए राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं, ''ऐतिहासिक उपन्यास में हमें ऐसे समाज और उसके व्यक्तियों का चित्रण करना होता है, जो सदा के लिए विलुप्त हो चुका है, किंतु उसने पद-चिह्न कुछ ज़रूर छोड़े हैं, जो उसके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं दे सकते। इन पदचिह्नों या ऐतिहासिक अवशेषों के पूरी तौर से अध्ययन को यदि अपने लिए दुष्कर समझते हैं, तो कौन कहता है, आप जरूर ही इस पर कदम रखें...?''

समकालीन साहित्य-परिदृश्य में मेवाराम उन चंद लेखकों में हैं, जिन्होंने ऐतिहासिक कहानी की तरह ही विलुप्तप्रायः ऐतिहासिक उपन्यास को एक नई ऊर्जा दी है। वे इतिहास के प्रसंग में कैसी भी प्रयोग बहुलता से बचते हैं और सीधे-सादे ढंग से, पर्याप्त खोजबीन के आधार पर अपना काम करते हैं। वे इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों एवं घटना प्रसंगों को लेकर ही काम करने वाले लेखक हैं। कुछ वर्ष पूर्व जब उनका उपन्यास 'दाराशुकोह' प्रकाशित हुआ था, इस क्षेत्र में प्रायः एकदम नए लेखक की रचना होने पर भी, उसने अपनी ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। अब उसी क्रम में उनका उपन्यास 'सुल्तान रज़िया' आया है। एक अराजक और गहरी उथल-पुथल वाले समय में वे यह

रचनात्मक विवेक दिखाते हैं कि किन और कैसे पात्रों को सामने लाकर इतिहास का रचनात्मक और सार्थक उपयोग संभव है। दाराशुकोह और रज़िया सुल्तान, या इनसे भी पहले शाह-ए-आलम जैसे पात्र उनके इसी रचना-विवेक का परिणाम हैं। आगे भी इस दिशा में उनके काम की जो जानकारी मिलती है, उसमें नूरजहां और हुमायूं इसी विवेक को पुष्ट और प्रमाणित करते हैं। असाधारण धैर्य और परिश्रम के बिना यह असंभव है।

इतिहास में सुल्तान रज़िया के प्रसंग में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। वह दुनिया की पहली महिला शासक थी। उसके पिता इल्तुतमिश ने अपने पुत्रों पर तरज़ीह देते हुए क़ानूनी तौर पर उसे अपनी विरासत सौंपी थी। सुल्तान इल्तुतमिश की आखिर यह विरासत क्या थी? लखनौती से लेकर रणथंभौर और हांसी की फतह के बाद सुल्तान की वापसी और इस खुशी में दिल्ली में हुए शानदार जश्न के बाद काज़ी शेख-उल-इस्लाम नज़्मुद्दीन सगर और वज़ीर जुनैदी जैसे लोग मायूस थे। कुतुबुद्दीन ऐबक जब गुजरात की मुहिम से लौटे, बीस हज़ार गुलाम उनके साथ थे। कालिंजर की मुहिम में पचास हज़ार से ज़्यादा गुलाम थे। सुल्तान की इस मुहिम में दो हज़ार गुलाम भी नहीं हैं। न ही हिंदुओं के मंदिर जमींदोज़ हुए हैं। इस पर वज़ीर की टिप्पणी है, ''आख़िर हम कर भी क्या सकते हैं? सुल्तान दिन-ब-दिन सूफ़ी होते जा रहे हैं...'' (रजिया सुल्तान, पृ. 191) दरबार में उन्हें जब कुछ हिंदुओं के इस्लाम क़ुबूल करने की ख़बर दी जाती है, तब भी उनकी चिंता यही है कि इसमें उनके साथ कैसी भी ज़ोर-जबर्दस्ती तो नहीं हुई है।

पिता की वसीयत की क़ानूनन दावेदार

होने के बावजूद गहरे संघर्ष और अंततः जनता की मांग पर रज़िया सुल्तान बनती है। अपने पिता की निकटता और प्यार के कारण सियासत को करीब से देखने-समझने का अवसर उसे मिला है।

एक लंबी तैयारी और अनुशासित जिंदगी के बाद रज़िया गद्दी पर बैठती है। उसकी अपनी मां कुतुब बेगम का इंतकाल उसके बचपन में ही हो गया था। अपनी छोटी बहन सज़िया और छोटे भाइयों को उसने गहरी ममता के साथ, एक तरह से अपनी ही देख-रेख में रखते हुए, पाले-पोसे जाने में मदद की है। उसकी ख़ास बांदियों में हिंदू युवतियां भी हैं, मुसलिम भी। बच्चों की पढ़ाई के लिए उसने यदि मदरसे खुलवाए हैं, तो ग़रीब रियाया के लिए लंगरखाने। एकाध बार वह स्वयं भी आम जनता के लिए खुले इन लंगरखानों से मंगवाई गई खिचड़ी खाती है। अपनी विरासत को ठीक से समझ और आत्मसात करके हुकूमत के काम को क़ायदे से अंजाम देने के लिए वह इतिहास को जानने की कोशिश करती है। इसी कारण वह महमूद गज़नवी और मुहम्मद ग़ोरी के बारे में भरपूर जानकारी हासिल करती है। अलबरूनी के भारत संबंधी संस्मरण और फ़िरदौसी का 'शाहनामा' उसकी प्रिय किताबों में हैं। रियाया के सुख-दुःख के कारणों एवं स्रोतों को वह गहराई से जानने-समझने की कोशिश करती है। वेश बदलकर सखियों और बांदियों के साथ रियाया के बीच जाने का शौक उसे तब से है, जब वह सुल्तान नहीं बनी थी। सूरजकुंड के मेले में ज्योतिषी द्वारा सुल्तान इल्तुतमिश के नेक इन्सान और रियायापरवर होने के बावजूद, हिंदुओं पर जज़िया के रूप में तीर्थ-यात्राओं पर लगाए जाने वाले कर की बात वह ग़ौर से सुनती है। इसी तरह सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा सत्ताइस मंदिरों को ध्वस्त कराकर कुब्बतुल- इस्लाम मसज़िद बनवाने की आलोचना को भी वह ग़ौर से सुनती है। अपने बदले वेश में वह हिंदू ज्योतिषी की इस बात का समर्थन भी करती है।

रज़िया के चरित्र में लेखक ने अपने समय की कुछ चिंताएं भी गूंथी हैं। इतिहास में अन्य अनेक शासकों की तरह परिंदों और जानवरों की लड़ाई से उसे घृणा है। पशु-पक्षियों के प्रति उसका रवैया गहरी चिंता और संवेदनशीलता का है। कभी शिकार के दौरान पिता सुल्तान इल्तुतमिश के दिए चीते के दो शावकों को वह गहरे मोह और लगाव के साथ पालती है। उन्हें 'रहीम' और 'रहमान' नाम देकर ताउम्र वह उनसे नाता बनाए रखती है। सुल्तान बनने से बहुत पहले उसने स्त्रियों की एक निजी सेना बनाई थी। बाद में वह उसका और विस्तार करती है। उसमें हिंदू स्त्रियां भी हैं और मुसलिम भी। ये देश-दुनिया की खबर उसे देती हैं। वैसे भी राज्य की सफलता के लिए जासूसों के सक्रिय और विश्वसनीय तंत्र पर वह ख़ासा ज़ोर देती है।

उसकी घोषणा का अंतिम हिस्सा है, ''सुल्तान रज़िया बिन सुल्तान इल्तुतमिश तमाम अवाम के सामने वादा करती है, अगर हम क़ानून के मुताबिक कोई ग़लत क़दम कभी उठाते हैं, तो अवाम को इख़्तियार है कि वह हमें ताज़ो-तख़्त से बेदख़ल कर दे। हम अवाम से यह भी वादा करते हैं, हम जब तक ताज़ो-तख़्त के मालिक रहेंगे, तब तक अपनी शादी नहीं करेंगे। अवाम की ख़िदमत हमारा पहला फ़र्ज़ होगा...'' (वही, पृ. 472)

जब रज़िया अपने ऊपर यह कड़ी शर्त लाद रही है, उसकी उम्र अट्ठाइस साल के आसपास है। वह एक सुंदर युवती है, जिसकी परवरिश दरबारी विलासिता के माहौल में हुई है। उसे कुल मिलाकर कोई साढ़े तीन साल हुकूमत करने का अवसर मिला। वह कुलीन वर्ग के षड्यंत्रों का शिकार हुई, लेकिन इस छोटे-से अर्से की हुकूमत में ही उसने कभी अपने औरत होने को अपने फ़र्ज़ के बीच नहीं आने दिया। दाराशुकोह की तरह ही, उससे कोई चार सौ साल पहले इतिहास में यह दर्ज़ किया गया कि अगर उसकी हुकूमत को कुछ और समय मिलता तो हिंदुस्तान का इतिहास कुछ और होता। उसके जीवन का अंत एक तरह से उसके आदर्शों और सपनों का अंत भी था। उसकी हत्या के बाद उसके छोटे भाई मुइज़्ज़ुद्दीन को बहरामशाह का ख़िताब देकर सुल्तान की पदवी दी जाती है, लेकिन सुल्तान होने पर भी सुल्तान का अधिकार उसके पास नहीं था। जैसा कि वह चाहता था, मलिक एतगीन को नायब-ए-मुल्क के ख़िताब से नवाज़ा गया। शाही मुहर उसी के पास रहेगी। सुल्तान भले ही मुइज़्ज़ुद्दीन बहरामशाह हो, हुक्म उसी का चलता है।

रज़िया के विरोधियों की उससे मुख्य शिकायत यह थी कि वह अपने कथित मर्दाना व्यवहार से इस्लाम और शरीयत के खिलाफ़ काम करती है। उनका यह आरोप भी था कि अपने गुलाम याकूत के साथ उसके जिस्मानी संबंध थे। सुरक्षा और राज्य व्यवस्था की आड़ में वह वस्तुतः अपने इन संबंधों को ही खुल

खेलने का अवसर देती थी। इससे निराकरण का जो तरीक़ा लेखक ने निकाला है, उससे गुलाम याकूत का चरित्र कुछ दब-सा गया है। वह कभी अपने वास्तविक रंग में दिखाई नहीं देता। रज़िया के मनोभावों को जानकर भी वह प्रायः सब कहीं हाड़-मांस के आदमी की अपेक्षा वफ़ा और फ़र्ज़ का पुतला दिखाई देता है। रज़िया की ख़ास बांदियां इसे जानती और समझती हैं, इसीलिए याकूत के आने पर वे दोनों को अकेला छोड़कर बातचीत का पूरा मौक़ा देती हैं।

रज़िया और याकूत के प्रेम का एक दृश्य लेखक ने बहुत विस्तारपूर्वक अंकित किया है, जब रज़िया अपनी ख़ास बांदियों के साथ नाव में हौज़ शम्सी की यात्रा में याकूत के साथ है।

मलिक एतग़ीन द्वारा एक षड्यंत्र के तहत याकूत की हत्या रज़िया के लिए एक बड़ा सदमा थी। उसके बाद रज़िया का जैसे सब कुछ बदल जाता है। अपने प्रति मलिक अल्तूनिया के बेपनाह प्यार को जानकर और क़ैद में उसके व्यवहार को देखते हुए, अंततः वह उससे निक़ाह को तैयार हो जाती है। याकूत के बारे में अपने रिश्ते का खुलासा करते हुए वह मलिक से कहती है, ''हम मलिक को बताना चाहेंगे जमालुद्दीन याकूत ने हमें कभी नज़र उठाकर नहीं देखा। हमारी मोहब्बत एकतरफ़ा थी...''

एक अच्छे और सार्थक ऐतिहासिक उपन्यास के लिए जानकारी और शोध का विशेष महत्त्व होता है, लेकिन जानकारी और शोध के सहारे ही ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखा जा सकता। मेवाराम बहुत विनम्रतापूर्वक इसे स्वीकार करते हैं कि क़ायदे से वे न तो साहित्य के आदमी हैं, न ही इतिहास के। प्रादेशिक प्रशासनिक सेवा से निवृत्त होने के बाद, समय के सदुपयोग और जीवन में भराव की दृष्टि से वे इस ओर आए। हो सकता है इसकी तैयारी उन्होंने अपने सेवाकाल में ही शुरू कर दी हो। अपने लिए उन्होंने सल्तनत और मुग़ल काल को चुना। रज़िया सुल्तान को लेकर किशोरीलाल गोस्वामी का 'सुलताना रज़िया बेगम का रंगमहल में हलाहल' (1904) और आनंदप्रकाश जैन का 'पलकों की ढाल' (1962) लिखे जा चुके थे। किशोरीलाल गोस्वामी जहां हिंदी नवजागरण के दौर में सांप्रदायिक दुराग्रहों के शिकार हैं, आनंदप्रकाश जैन कदाचित् पहली बार एक हाड़-मांस की स्त्री के रूप में रज़िया को प्रस्तुत करते हैं। वह औरत होकर भी औरत होने की अपनी सीमा को नकारती ही है, स्त्री की स्थिति और अधिकार के प्रसंग में कुछ बुनियादी सवाल भी उठाती है। मेवाराम की आंख केवल अपने लक्ष्य पर है। उनके द्वारा चुने गए क्षेत्र में उनसे पहले क्या कुछ हो चुका है, इसकी अधिक चिंता वे नहीं करते, लेकिन चूंकि मूल्यांकन के प्रसंग में उनके आगे-पीछे के काम की अनदेखी नहीं की जा सकती, उन्हें यह जानकारी होनी चाहिए थी। पिछले काम की खाली जगहों को भरते हुए ही वे अपना काम और सार्थक रूप में कर सकते थे।

अपने काम के प्रसंग में जो जानकारी मेवाराम जुटाते हैं, उसमें स्फीति और विस्तार की अधिक चिंता वे नहीं करते। अपने उपन्यासों में वे ऐसे पात्रों की अवतारणा कर लेते हैं, जो अनेक मुद्दों पर विभिन्न प्रकार की जानकारी जुटाते और मुहैया कराते हैं। शहज़ादी रज़िया की पढ़ाई के नाम पर काज़ी कबीरुद्दीन से सवालों की असमाप्त झड़ी और दुनिया-जहान की बातें इसी तरह का उदाहरण हैं। हैरत तब होती है, जब उनका उत्तर भी उनके पास हमेशा तैयार रहता है। इसमें प्रकृति भी उनकी मदद करती है। पढ़ाई के दौरान बारिश न थमने से यह सिलसिला खूब लंबा खिंचता है।

संवादों की सामान्य प्रविधि में भी इस जानकारी के स्रोत छिपे हैं। ख्वाज़ा कुतुबुद्दीन चिश्तियों और सूफ़ियों के बारे में इसी तरह की तफ़सीली जानकारी अवनीशचंद्र वाजपेयी के सवालों के दिए गए उत्तरों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। खाने-पीने की चीज़ें, आम की क़िस्में और स्वाद और इसी तरह की अन्य दीगर चीज़ें उपन्यास की संरचना का हिस्सा न बनकर महज़ प्रदर्शन का हिस्सा बनकर रह जाती हैं। इतिहास के ढेरों प्रसंग, चाहे वे मुहम्मद ग़ोरी और महमूद गज़नवी के बारे में हों या फिर अनंगपाल के, संवादों की प्रश्नोत्तर शैली में दूर तक खिंचते चलते हैं। मौक़ा मिलने पर ब्यौरों की तफ़सील के प्रति लेखक का गहरा रुझान भी संभवतः इस जानकारी को पचा न पाने का ही स्वाभाविक परिणाम है। पहली बार तुर्कान बेग़म को साथ लेकर शिकार के लिए मथुरा जाने पर सुल्तान इल्तुतमिश की फौज-फ़र्रा, डेरे-तंबू, शिकारी कुत्ते और चीते और ऐसी ही दूसरी चीज़ों के बेहिसाब ब्यौरे जब-तब थकाते और उबाते भी हैं। सुल्तान रुकुनुद्दीन के हमाम के ब्यौरे, तालाब में उतरने के लिए लकड़ी की सीढ़ियों पर खड़ी नंगी लौंडियां, नाभि पर मोमबत्ती रखकर तैराक़ी का हुनर और ऐसे ही दूसरे ब्यौरों में कोई ख़ास मौलिकता भी नहीं है। उस सबके स्रोत के रूप में दीवान जरमती डांस का 'महाराजा' छिपा नहीं रहता।

ऐतिहासिक उपन्यास में रचनात्मक कल्पना की एक विशिष्ट भूमिका होती है। इसी के सहारे लेखक हज़ारों साल पहले का अतीत पुनर्जीवित करता है। आज के पाठक कल्पना से निर्मित इस दुनिया को ही यथार्थ और वास्तविक समझते हैं। अंग्रेजी में हावर्ड फ़ास्ट और हिंदी में रांगेय राघव के यहां इसे ख़ासतौर से देखा जा सकता है। कल्पना का यह रचनात्मक उपयोग ही वस्तुतः उपन्यास को अतीत से निकालकर वर्तमान और भविष्य से जोड़ता है। यह कल्पना ही है, जो संवेदनशील स्थलों की पहचान और निर्माण में भी लेखक की सहायता करती है। कल्पना का यह रसायन ही ऐतिहासिक उपन्यास को कविता की मार्मिकता और उदात्व से जोड़ता है। 'सुल्तान रज़िया' की स्फीति और विस्तार में ऐसे स्थल विरल हैं। मेवाराम की रज़िया सुल्ताना का महत्त्व यह है कि स्त्री होकर भी वह एक आदर्श शासक की छवि छोड़ती है और स्त्री की सीमाओं को अस्वीकार करती है। इस बात को फिर दोहराया जा सकता है कि पात्रों के चयन का विवेक ही, एक लेखक के रूप में, मेवाराम की सफलता का सबसे बड़ा कारक है। यह श्रेय उन्हें दिया ही जाना चाहिए कि ऐतिहासिक उपन्यास की विलुप्तप्रायः रचनात्मक विधा को उन्होंने एक नया जीवन दिया है।

सुल्तान रज़िया/मेवाराम/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, दिल्ली-110003/ मूल्य : ` 650

372, छोटी बमनपुरी, बरेली-243003
फोन (0581) 25546701, मो. 093198-38309

बर्फ में पिघलते प्रेम और राजनैतिक उथल-पुथल की व्यथा कथा 'स्नो'

सुभाष शर्मा

जब तुर्की साहित्यकार ओरहान पामुक को 2006 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला था, तो हिंदी जगत में उनकी रचनाओं को पढ़ने-जानने वालों की संख्या नगण्य थी, मगर कालांतर में उनकी रचनाओं के हिंदी अनुवाद उपलब्ध होने के कारण उनके पाठकों की संख्या तेजी से बढ़ी है। उनके उपन्यास 'स्नो' का हिंदी अनुवाद ('स्नो' नाम से ही) पेंगुइन बुक्स ने पाठकों को उपलब्ध कराया है, जिसे प्रियदर्शी ठाकुर 'ख़याल' ने अनूदित किया है, मगर पहली आपत्ति यह हो सकती है कि इसे 'बर्फ' नाम से क्यों नहीं छापा गया? क्या हिंदी भाषा इतनी दरिद्र है कि उसमें उपयुक्त शब्द नहीं मिलता? सचाई यह है कि हिंदी शब्द-संपदा अंग्रेजी से कई गुना है। खैर, यह उपन्यास चौवालीस अध्यायों में 592 पृष्ठों में फैला हुआ बड़ा उपन्यास है। यह 'बर्फ की खामोशी' नामक अध्याय से शुरू होकर 'का को यहां कोई पसंद नहीं करता' नामक अध्याय पर खत्म होता है। बर्फ, बर्फ, बर्फ—सारे उपन्यास में भारी बर्फबारी की चर्चा है और उसी दौरान 'का' नामक बयालीस वर्षीय अविवाहित पत्रकार तुर्की के सीमांत क्षेत्र कार्स पहुंचता है। उसकी मां मर चुकी है और वह अकेला है परिवार के नाम पर। वहां की सबसे गंभीर समस्या युवतियां की आत्महत्या पर रपट लिखनी है, जिसने कालांतर में महामारी का रूप ले लिया है। दूसरी ओर कट्टर इस्लामवादी स्थानीय नगर निगम का चुनाव जीतने के करीब हैं और खुफिया पुलिस राजनैतिक स्थिति पर नजर रखे हुए है। तीसरी ओर पत्रकार का प्यार परवान चढ़ता है। इस प्रकार इस उपन्यास में ये तीन प्रमुख आयाम एक-दूसरे से जुड़े हैं। फिर भी जो प्रस्थान बिंदु है, वह है एशिया में आधुनिकता के नाम पर पश्चिमीकरण का नकार तथा इस्लामी देश में धर्मनिरपेक्ष और कट्टरपंथी ताकतों के बीच अंतर्विरोध। 'का' एक खटारा बस से एरजुरुम से कार्स शहर के लिए रवाना हुआ। वह एक कवि भी है, जिसने तुर्की में लिखा था 'हमारे सपनों में हिमपात महज एक बार होता है।' उसने जर्मनी में बारह वर्ष एक राजनैतिक शरणार्थी के रूप में बिताए थे। वह विद्यार्थी जीवन से ही अपना नाम 'का' लिखता रहा है; उसके कविता संग्रहों में भी यही नाम छपा है और उसके परिवार के लोग तथा दोस्त उसे इसी नाम से बुलाते हैं। इसलिए उपन्यासकार का के मार्ग प्रशस्त होने की कामना करता है। बस से उतरकर वह 'स्नो पैलेस होटल' में जा पहुंचा। वहां उसे सत्तर के दशक के क्रांतिकारी नाट्य अभिनेता सुनम ज़ईम और उसकी पत्नी दिखाई दिए। कार्स में उसकी पुरानी सहपाठिन इपेक के रहने की सूचना उसे मिल चुकी थी। वह अपने पति मुहतर से अलग स्नो पैलेस होटल में ही अपने पिता और बहन के साथ रहती है। 'रिपब्लिकन' अखबार के स्तंभकार मित्र तानेर ने ही का को कार्स जाने का सुझाव दिया था।

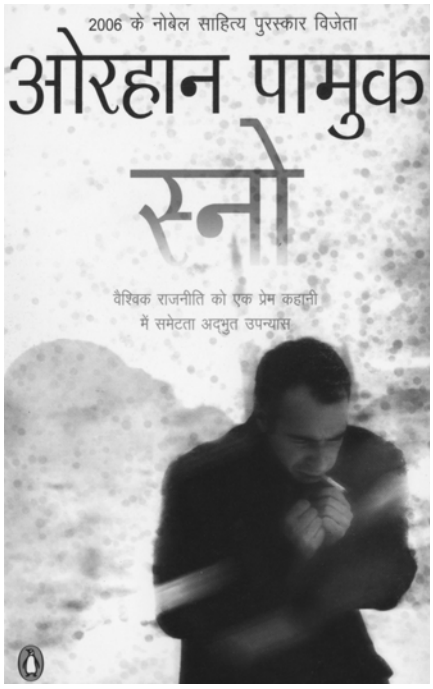

एक दिन अचानक इपेक होटल में उसे मिल गई, दोनों ने हाथ मिलाए और गालों को चूमा। इपेक को का के मित्र तानेर ने उसकी कार्स यात्रा के बारे में फोन से बता दिया था। उसे वह विश्वविद्यालय के दिनों से भी ज्यादा खूबसूरत लग रही थी। एक दुकान में जब दोनों बाद में मिले, तो का ने उससे आत्महत्या का कारण पूछा। इपेक ने कहा, ''हर शख्स खुदकुशी नहीं कर रहा, सिर्फ लड़कियां और औरतें कर रही हैं; मर्द खुद को धर्म के नाम कर देते हैं और औरतें खुद को मार डालती हैं।'' (पृ. 51) फिर जब इपेक ने पूछा कि क्या तुम वास्तव में चुनाव और खुदकुशी वाली लड़कियों के बाबत आए हो, तो का ने स्पष्ट किया, ''नहीं, मुझे इस्तांबुल में पता चला कि तुम और मुहतर अलहदा हो चुके हो। मैं यहां तुमसे निकाह करने आया हूं।'' (पृ. 51) थोड़ी देर में उसी दुकान में मौजूद एक शिक्षा संस्थान के निदेशक के सीने में एक ठिगने आदमी ने गोली मार दी। का और इपेक वहां से भागे और का को लगा कि जैसे उसी ने उसकी हत्या की हो! इपेक ने बताया कि निदेशक दुपट्टे से सिर ढंकने वाली लड़कियों को कक्षा में नहीं आने दे रहा था, इसीलिए किसी सिरफिरे ने उसे मार दिया। फिर उसने का से कहा कि जो कुछ तुमने देखा है, उसे मुहतर को बता देना ताकि जब एम.आई.टी. (खुफिया एजेंसी) उसे हिरासत में ले, तो उसे हैरत न हो। उसने यह भी बताया कि मुहतर उससे दोबारा निकाह करना चाहता है, सो वह इस बात का खयाल रखे उससे बात करते

समय। वास्तव में खुफिया एजेंसी निदेशक को सुरक्षा बल देने के पक्ष में थी, मगर उसने सुरक्षा लेने से इंकार कर दिया था। अतः उसके सीने पर एक टेपरिकार्डर चिपका दिया गया था। उस रिकार्डर में दर्ज था कि हत्यारे ने निदेशक से कुरान में वर्णित उस आयत का जिक्र किया था, जिसके अनुसार औरतों को अपना सिर और चेहरा ढके रहना चाहिए।

कार्स से का फ्रैंकफुर्ट (जर्मनी) चला गया था। हैमबर्ग में काव्य संध्या में भाग लेकर वह रात में वापस लौटा। फिर संतरे खरीदने गया था और उसे वहीं गोली मार दी गई। किसी ने हमलावर को नहीं देखा था, मगर पीछे से गोली लगने के कारण शायद हमला पूर्व नियोजित था। कुछ लोगों ने बताया था कि उन्होंने पोर्न फिल्मों को देखते समय देखा था, कि वह यौन संबंधी दुकानों पर देखा जाता था, कि कार्स की यात्रा के आठ वर्ष पहले दो औरतें (एक जर्मन, दूसरी तुर्की) उसकी जिंदगी में आई थीं, मगर कार्स से वापस लौटने के बाद के चार वर्षों में का का किसी औरत से संबंध नहीं था, जर्मनी में शुरू में उसने कुली और मकानों की रंगाई-पुताई का काम किया था। फिर वह तुर्की लोगों को अंग्रेजी भी पढ़ाता था। अपनी आखिरी चिट्ठी में उसने सूचित किया था कि उसने चार वर्षों की कड़ी मेहनत से अपना नया कविता संग्रह 'बर्फ' पूरा कर लिया था। एक दूसरे खत में का ने इपेक को लिखा था, ''तमाम उम्र मैंने खुद को किसी घायल जानवर जितना गुमशुदा और अकेला महसूस किया है, मेरे बदन के चप्पे-चप्पे पर असह्य यंत्रणाओं के चिह्न हैं। कभी-कभी मुझे लगता है, मानो मैंने सिर्फ तुम्हें ही नहीं खोया है, दुनिया की हर चीज खो दी है।'' (पृ. 360)

इस्लामवादी ब्लू (जो इपेक की बहन कादीफे का प्रेमी था) का मानना था कि वे लोग पूरी मानव-जाति से बात कर रहे हैं, सिर्फ यूरोप में नहीं/यूरोप के लोग उनसे घृणा करते हैं, अस्तु उनके दुश्मन हैं। इससे भिन्न वामपंथियों का विचार था कि सिर्फ यूरोप का अभिजात वर्ग उनसे घृणा करता है। ब्लू ने अपना दृष्टिकोण और स्पष्ट किया, ''यूरोप मेरा भविष्य नहीं है, जब तक मैं जिंदा हूं, उनकी नकल नहीं करूंगा, और न खुद से इस खातिर नफरत करूंगा कि मैं उनसे भिन्न हूं।'' (पृ. 375)

एक अन्य प्रसंग में शासन का मत है कि यदि कादीफे अपने सिर पर दुपट्टा न बांधे, तो उसके प्रेमी ब्लू को रिहा किया जा सकता है और दोनों विदेश में रह सकते हैं। कादीफे अपने सिर के बाल खोलने को तैयार नहीं थी, मगर एक नाटक में ऐसा करने हेतु उसे का ने बहुत समझाया-बुझाया। कादीफे उसूलों की बात करने लगी। इस पर का ने कहा, ''जिंदगी उसूलों से नहीं, खुशियों से बनती है।''

''लेकिन अगर आपके पास उसूल न हों और अल्लाह में यकीन न हो, तो आप कतई खुश नहीं रह सकते।' (कादीफे)

''सच कह रही हो, लेकिन हमारे इस बेरहम मुल्क में, जहां इन्सानी जान इतनी सस्ती है, सिर्फ अपनी मान्यताओं के लिए अपने आपको मिटा देना बेवकूफी है। मान्यताएं? ऊंचे आदर्श? ये ऐयाशियां सिर्फ अमीर मुल्कों के लोगों के लिए हैं।'' (पृ. 434)

ब्लू ने कटुता से का को कहा कि वह अपने प्यारे यूरोप की नकल करता है, गिड़गिड़ाता है। इस पर का ने कहा, ''अगर मैं खुश हूं तो मुझे उतने भर की ही परवाह है।'' ब्लू ने चिल्लाकर कहा, ''जो लोग सिर्फ खुशी की तलाश में रहते हैं, उन्हें यह नहीं मिलती।'' (पृ. 488)

लेकिन आगे रास्ते में का को जबरन एक मवाली ने एक गाड़ी में बैठा लिया और मारता-पीटता व गाली-गलौज करता रहा। उसके हाथों में हथकड़ी पहना दी गई। वे का से सुनय की योजना, ब्लू के रिहा होने का कारण, सुरक्षा न लेने का कारण, ब्लू के छिपने की जगह आदि पूछने लगे। वे का को जलील करते रहे कि उसके जैसे बुद्धिजीवी जनतंत्र पाने की बातें करते हैं, मगर इस्लामी कट्टरपंथियों से समझौता कर लेते हैं, मानवाधिकार चाहते हैं, मगर सौदेबाजी करते हैं आतंकवादी कातिलों से; यूरोप को हर मसले का हल मानते हैं, मगर मक्खन लगाते हैं इल्लामवादियों को, औरतों की बराबरी की बात करते हैं, मगर उनकी मदद करते हैं, जो सिर दुपट्टे से ढके रहती हैं। उन लोगों ने उसे यह भी बताया कि उसकी प्रेमिका इपेक पहले ब्लू की रखैल थी (चार साल तक) और तब उसका मुहतर से तलाक नहीं हुआ था। बाद में ब्लू का शारीरिक संबंध इपेक और कादीफे; दोनों से हो गया। जब ब्लू एक बार किसी सम्मेलन में भाग लेने आया था, तो उसने इपेक को आठ बार फोन किया था और उसके दो माह बाद इपेक ब्लू के साथ भाग जाना चाहती थी।

बाद में जब इपेक और का होटल में मिले, तो का ने सारा वाकया उसे बताया और रोने लगा। इपेक ने रोते हुए इसे स्वीकार किया और इसके लिए मुहतर को जिम्मेदार बताया, जो ब्लू को अपने घर बार-बार बुलाता था और इससे इपेक की सुंदरता का बखान करता तथा इपेक से ब्लू की तारीफें करता, मगर उसने कहा कि वह प्यार बीते कल का है। बार-बार पूछने पर इपेक ने कहा कि मुहतर और ब्लू के अलावा उसकी जिंदगी में कोई नहीं आया था, मगर यह भी कहा, ''बहुत मुमकिन है कि तुम यूरोप में काफी आजाद खयाल औरतों से मिले होगे। मैं उनमें से किसी के बारे में तुमसे कुछ नहीं पूछूंगी, लेकिन यकीनन उन्होंने तुम्हें सिखाया होगा कि नए प्रेमी पुराने प्रेमियों की छुट्टी कर देते हैं।'' (पृ. 506) और मंच पर कादीफे के अभिनय के पूर्व इपेक को सूचना मिल गई कि ब्लू और हांदे की हत्या कर दी गई है, फौजी दस्ते द्वारा।

इसके फलस्वरूप इपेक ने शहर से बाहर न जाने का फैसला कर लिया और का का सूटकेस एक फौजी अफसर के हाथ भिजवा दिया। उधर कादीफे और सुनय में खुदकुशी को लेकर चर्चा हो रही थी। सुनय का मानना था कि कुछ लड़कियां मुहब्बत में खुदकुशी करती हैं, कुछ पति की पिटाई सहन नहीं कर पातीं, और कुछ गरीबी के कारण ऐसा करती हैं, मगर कादीफे का मानना था, ''खुदकुशी की असली वजह आत्मसम्मान है।..और इसलिए खुदकुशी नहीं करती कि उसने आत्मसम्मान खो दिया है, वह अपना आत्मसम्मान दिखाने के लिए अपनी जान ले लेती है।'' (पृ. 551) आगे वह जोड़ती है, ''औरतें खुदकुशी इसलिए करती हैं कि उन्हें कुछ हासिल करने की उम्मीद होती है और मर्द इसलिए खुदकुशी करते हैं कि वे कुछ भी हासिल करने की तमाम उम्मीदें खो चुके होते हैं।'' (पृ. 552) बाद में इपेक ने कादीफे को बता दिया कि ब्लू और हांदे छापे में मारे जा चुके हैं। इपेक ने आशंका व्यक्त की कि शायद का ने ही सैनिक दस्ते को ब्लू के छिपे होने की खबर दी होगी, इसीलिए वह उसके साथ जर्मनी नहीं गई, मगर कादीफे ने इस शंका पर विश्वास नहीं किया। दूसरी ओर

इपेक के मन में यह भ्रम पैदा हुआ कि शुक्र है कि वह स्वयं कादीफे की जगह नहीं थी!

कथावाचक ने इपेक को बताया कि कार्स से जर्मनी (फ्रैंकफर्ट) जाने के बाद का ने उसे कई पत्र लिखे थे, मगर भेजे नहीं, वह इपेक को कभी नहीं भूल पाया; वह पूरी तरह टूट गया था; नींद की गोलियां लेता और खूब शराब पीता, लेकिन इपेक ने कहा कि यदि वह मुझसे इतना ही प्यार करता था, तो वापस कार्स क्यों नहीं आया? मगर उस पर वारंट जारी था। इससे क्या, वह अदालत में हाजिर हो जाता, इपेक का मानना था। फिर ब्लू उससे (इपेक) मिलने चुपके से कार्स आया था, जबकि उसे देखते ही गोली मारने का हुक्म जारी था। जब कथाकार ने इपेक से प्यार का इजहार किया, तो वह बोल पड़ी कि उसने मुहतर, ब्लू और का से प्रेम करने की कोशिश की थी, मगर बात नहीं बनी और वह एक बच्चे के लिए तरसती रही, इसलिए अब प्यार करने का हौसला ही बाकी नहीं है। बाद में सिद्ध हुआ कि शिक्षा संस्थान के निदेशक के हत्यारे को ब्लू ने तोकात से बुलाया था। उसे तीन साल की सजा हुई और अब वह एक चाय की दुकान चलाता है तथा दुपट्टे वाली लड़कियों के अधिकारों पर स्तंभ लिखता है।

कादीफे के दुपट्टा उघाड़ने की बात से कार्स में दुपट्टा ओढ़ने की मुहिम कमजोर पड़ गई। कार्स में लोग ऐसे नायक के इंतजार में थे, जो गरीबी, बेरोजगारी, अफरा-तफरी और हत्याओं से छुटकारा दिला सके, जिन्होंने कथाकार को ऐसा नायक समझने की भूल की, उनके हाथ निराशा ही लगी। जासूस साफेत का मानना था कि का एक अच्छा इन्सान था, मगर वह अपना दिमाग जर्मनी में ही छोड़ आया था और अपने अंदर बंद रहता था। अब कार्स में का को कोई पसंद नहीं करता। दूसरी ओर मालूम हुआ कि ब्लू की लाश हवाई जहाज से समुद्र में फेंक दी गई थी ताकि उसके दफन करने की जगह मजार न बन सके। इसका सादृश्य ओसामा बिन लादेन जैसे आतंकवादी की हत्या से है। पिछले चार सालों में लोग टी.वी. ज्यादा देखने लगे हैं और नवयुवक सेटेलाइट से प्रसारित होने वाली फिल्में देखना ज्यादा पसन्द करते हैं, चायघर में जाने की अपेक्षा। शहर में हर आदमी ने अपना पेट काटकर सफेद डिश एंटिना खरीद लिया है। शहर में विकास के नाम पर यही नया हुआ है। दूसरी ओर ''बर्फ से ढंकी हुई वह हमारे सिरों के ऊपर से उड़ गई।'' (पृ. 589) यही तो जीवन है भाई। फिर लौटते वक्त कथाकार को तमाम तोहफे मिले। फाजिल ने वीडियो टेपों की प्रतियां उसे सौंपीं। कादीफे ने सुनय के साथ का फोटो दिया और एक कुत्ता जीभ लपलपाते हुए रेलगाड़ी के साथ-साथ प्लेटफार्म पर दौड़ रहा था। गौरैया, तोहफे, कुत्ता, वीडियो टेप, फोटो आदि मानव-जीवन में आशा, अपनापन और सहकार के प्रतीक हैं।

इस उपन्यास में अच्छी बात यह है कि उपन्यासकार ने आधुनिकतावाद और परंपरावाद को विभिन्न चरित्रों के माध्यम से आमने-सामने रखा है। उनमें निहित अंतर्विरोधों को दिखाया है। उनमें संवाद और टकराव दिखाया है, किन्तु कभी आधुनिकतावाद हारता है (जैसे क्रान्तिकारी और आधुनिक सुनय की मंच पर असली हत्या, का की हत्या), तो कभी परंपरावाद हारता है (ब्लू की हत्या, कादीफे को सजा आदि) क्योंकि दोनों अतियां समाज में उचित एवं व्यवहार्य नहीं हैं। निःसंदेह इस्लाम धर्म वाला तुर्की देश यूरोप के ज्यादा नजदीक है, क्योंकि क्रांति के जरिए वहां दकियानूसी परंपराओं व कुरीतियों को सामूहिक तथा शासकीय प्रयासों से छोड़ दिया गया है—वहां परिवार नियोजन का ज्यादा प्रचलन है, स्त्रियों ने पर्दा त्याग दिया है, शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार में उन्हें समानता मिलती है, मगर संक्रमणकाल में भारी उथल-पुथल, नोकझोंक, खून-खराबा भी हुआ। अस्तु, यह उपन्यास यथार्थ का सामाजिक दस्तावेज है, जिसमें इतिहास एवं कला स्वाभाविक रूप से घुले-मिले हैं। ओरहान पामुक जैसे सिद्धहस्त उपन्यासकार ने प्राकृतिक बर्फ, प्रेम, क्रांति, नाटक, खुदकुशी, कट्टर इस्लामवाद आदि का सजीव सोद्देश्यपूर्ण ढंग से किया है, जिसमें एक ओर अंधाधुंध पश्चिमीकरण का विरोध झलकता है, तो दूसरी दक्षिणपंथी ताकतों का खोखलापन भी उजागर किया गया है। भाषा और शिल्प अत्यंत सधा है। कई संवाद दिल को छूने वाले तथा उद्धरणीय हैं।

अनुवादक प्रियदर्शी ठाकुर 'ख़याल' ने एक महत्त्वपूर्ण कृति को हिन्दी पाठकों को पूरी निष्ठा के साथ उपलब्ध कराया है, जिसमें श्रमसाध्य अनुवाद सहज एवं जीवंत होने के कारण शुरू से अंत तक पाठकों को बांधे रहता है। काश, हिन्दी के तमाम शिक्षक इतना भी योगदान दे पाते, तो हिन्दी साहित्य अत्यंत समृद्ध होता, मगर कुछ आपत्तियां भी हैं, मसलन, अनुवादक ने हिंदी की बजाय उर्दू के शब्दों को ज्यादा तरजीह दी है : आत्महत्या की जगह 'खुदकुशी', शांति की जगह 'खामोशी', मूर्ख की जगह 'अहमक', विश्वास की जगह 'यकीन', कहवाघर की जगह 'कहवाखाना', आरोप की जगह 'तोहमत' आदि। शायद उन्होंने ऐसा इसलिए किया है कि तुर्की मुस्लिम देश है और तुर्की भाषा उर्दू के करीब है। दूसरे, कई अंग्रेजी शब्दों को ज्यों-का-त्यों लिया गया है, जबकि उनके हिन्दी समानार्थी शब्द उपलब्ध हैं : जैसे पश्चिमीकरण की बजाय 'वेस्टर्नाइजेशन' स्कार्फ (दुपट्टा क्यों नहीं?), डाइरेक्टर, मैसोचिस्टिक, सोसायटी, रिसेप्शनिस्ट, मार्क ऑव एक्सक्लेमेशन आदि। शीर्षक भी 'स्नो' दिया गया है, जबकि 'बर्फ' शीर्षक ज्यादा सटीक और लोकप्रिय होता। फिर कई जगह गलत वाक्यांश या शब्द प्रयुक्त हैं : 'अपने-अपने पतियों' (पृ. 334), 'अपने-अपने अखबारों', 'प्रतीक चिह्नों' (पृ. 164), 'मोहरी' (पृ. 14), 'अनेकों' (पृ. 32, पृ. 157), 'शीर्षक मिला गया' (पृ. 141) 'पता चला गया' (पृ. 134), 'अपनी-अपनी तलवारें' (पृ. 110), 'मुखाबित' (पृ. 20), 'रस्ते' (पृ. 349), लिखावट की जगह 'लिखाई' (पृ. 462), होंट (पृ. 479) आदि। फिर कुछ अंग्रेजी शब्दों का सटीक हिन्दी अनुवाद नहीं दिया गया है : जैसे 'एनलाइटेनमेंट' के लिए 'नवचेतना' (पृ. 335) लिखा गया है, जबकि उपयुक्त होता 'ज्ञानोदय' या 'प्रबोधन'। प्रूफ की कई अशुद्धियां स्वतः सिद्ध करती हैं कि पेंगुइन हिन्दी संस्करण अपने अंग्रेजी संस्करण की तरह सावधान नहीं है, मगर कुल 592 पृष्ठों की पुस्तक (जनसुलभ संस्करण) की कीमत 399 रु. कम नहीं है, मगर कुल मिलाकर गुणवत्ता में यह उपन्यास पठनीय ही नहीं, संग्रहणीय भी है।

स्नो/ओरहान पामुक/अनुवादक : प्रियदर्शी ठाकुर 'ख़याल'/पेंगुइन बुक्स, इंडिया प्रा.लि., 11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110017/पृष्ठ 592/मूल्य : ` 399 (पेपरबैक)

डी-71, निवेदिता कुंज, आर.के. पुरम, से. 10, नई दिल्ली-110022, दूरभाष : 011-26162591

रूपतिल्ली की कथा : एक नजर

मेहरबान राठौर

1

आजकल दलित चिंतन का जोर है और दलित में जन-जातियां भी शामिल हैं। उस चिंतन को विकसित करने में ज्योतिबा फूले का भी हाथ है। वे मानते थे कि अंग्रेज तो प्रगतिशील विचार फैलाने वाले लोग थे। इसलिए ज्योतिबा फूले 'अन्एलाई' अंग्रेजी को दुश्मन नहीं 'एलाई' मानते हैं। दुश्मन तो विप्रवादी लोग हैं। यह दलित चिंतन साहित्य के मूल्यांकन का भी एक ढंग है। इस दृष्टि से श्रीप्रकाश मिश्र के अद्यतन उपन्यास 'रूपतिल्ली की कथा' (प्रकाशक : लोकभारती, मूल्य : 300 रु.) का अध्ययन बड़ा मजेदार है। 19वीं सदी के आरंभ में खासी जनजाति को हिंदू लोग हिंदू बनाना चाहते हैं, अंग्रेज लोग ईसाई, क्योंकि देने की निगाह में उनकी जीवन-पद्धति में बड़ा पिछड़ापन है। वहां सांप की पूजा होती है, बहुपतिवाद की प्रथा है (हालांकि कई पति एक ही समय में नहीं अलग-अलग समय में होते हैं), खेती का स्थान निश्चित नहीं है और जंगल जलाकर खेती की जाती है, जिससे वन-संपदा का भारी नुकसान होता है, लोगों में पूंजी एकत्रित करने की भावना नहीं है, कई तरह की नरबालियां दी जाती हैं। लोग बिना बलि चढ़ाए कोपिली नदी पार नहीं करते। इसलिए आर्थिक रूप से विकसित नहीं हो पाते। अंग्रेज सुपीरियर रेस का है—गॉड ने इस प्रांतर में उसे भेजा है, इनके कल्याण के लिए। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो ईश्वर प्रदत्त भूमिका में कोताही बरतता है। हिंदू ऐसा नहीं कहता, लेकिन उसे भी लगता है इलाका पिछड़ा हुआ है, क्योंकि हिंदू धर्म की मुख्यधारा में नहीं है। उसे मुख्यधारा में लाना स्वाभाविक कर्म है। यदि वह हिंदू जीवन-मूल्यों को स्वीकार कर ले तो उसका कुछ भला जरूर होगा।

दोनों का एक आर्थिक उद्देश्य है। श्रीहट्ट का राजा वहां की खानों पर नजर रखे हुए है, पर इसके लिए वह बलिप्रथा को समाप्त करने की बात नहीं करता, सीमित करता है और हिंदू कर्मकांड में ढालता है। अंग्रेज समाप्त करने की बात करता है। उसकी नजर खानों पर भी नहीं है। हां, सीधे आदमी पर है। वह उन्हें कुली बनाना चाहता है, विशेषकर बर्मा के साथ आसन्न युद्ध के दौरान फौज की मदद के लिए। बर्मा जाने के लिए कोपिली नदी पार करना जरूरी है और वहां का बाशिंदा बिना बलि चढ़ाए उस नदी को पार नहीं करता, ऐसा टैबू है। अंग्रेज ईसाई बनाकर इस टैबू को नष्ट करना चाहता है, इसलिए नहीं कि यह अपने आपमें कोई प्रगतिशील कर्म है, बल्कि इसलिए कि इससे अंग्रेज ठीकेदार को मोटी कमाई होगी। आप जानते हैं कि नैतिक निर्णय परिस्थितियों पर नहीं, मंशा पर दिए जाते हैं। उपनिवेश बनाने वालों की मंशा स्थानीय निवासियों के हित में नहीं हो सकती।

यह और बात है कि ये निवासी आतताइयों से लड़ने के लिए बल उन्हीं उपनिवेश बनाने वालों की अधिरचना से प्राप्त कर लें।

दोनों से लड़ाई में खासी जाति फिलहाल वही बना रहना चाहती है, जो वह सांस्कृतिक रूप से है—कम-से-कम वही बने रहने के अधिकार के लिए संघर्षरत है। इसके लिए वह अपनी तमाम सामाजिक संस्थाओं—विवाह पद्धति, उत्तराधिकार आदि की वकालत करती है, यहां तक कि वह अपनी भाषा की लिपि विकसित करती है, वह भी एक सैनिक के माध्यम से, पर नजर बुराइयों पर भी रखती है। जोर राय, जो अपनी पारिवारिक समृद्धि के लिए राफताब को 'उथ्लेन' (यानी सर्प) के लिए बलि चढ़ा देता है, वह भी कहता है कि यदि हमारी पुरखिन 'उथलेन' के अंश को पूरा-पूरा खा गई होती तो यह बलि चढ़ाने की नौबत ही नहीं आती। उसने सांप के कुछ अंश को अनखाया ही छोड़ दिया, जिससे ये दुनिया भर के सांप पुनः पैदा हो गए, जिनके चलते आज नरबलि देनी पड़ती है। मृत्यु पर दी जाने वाली बलि के खर्च से बचने के लिए राफताब की पत्नी ईसाई बनती है, लेकिन पादरी उसका उपयोग कुछ खासियों पर हत्या का अभियोग सिद्ध करने के लिए करता है।

इस बचाव की लड़ाई में कई तरह के लोग शामिल हैं। राजन्य वर्ग है, जो नेतृत्व देता है। सामान्य जन हैं, जो इस नेतृत्व को सैनिक मुहैया करते हैं। यहां तक कि मोती डिंगडोह और जोर राय जैसे समाज बहिष्कृत लोग हैं, जो अपने ढंग से यह लड़ाई लड़ते हैं। अंग्रेज से मोती डिंगडोह सीधे-सीधे कहती है कि यह इलाका तुम्हारा नहीं है, तब क्यों घुसे चले आ रहे हो? उसे रोकने के लिए अंग्रेज कहता है कि तुम ऐसा कर सरकारी काम में दखल दे

रही हो। अंग्रेज उनसे पार नहीं पाता तो सीधे फौज लेकर आ जाता है। विकास के नाम पर सड़क बनवाना शुरू करता है, जो दरअसल इलाके पर प्रभुता के लिए प्रमाणस्वरूप है। और तो और यहां की संपदा को दूर इंग्लैंड तक ले जाने के लिए है। राजन्य वर्ग इसे खूब समझता है। सामान्य जन को भी समझाता है। सामान्य जन उसका साथ देता है। अंग्रेज के पांव उखड़ने लगते हैं, तो वह उन राजाओं के पास जाता है, जो ईसाई हो चुके हैं। वे इंकार कर देते हैं। कहते हैं कि हम ईसाई जरूर हैं, लेकिन जब हमारी संस्कृति पर हमला होगा, तब हम एक हैं। धर्म आस्था की चीज है, पर संस्कृति जीने की। इस जीने के ढंग के कारण हर जगह इसाइयत एक नहीं है, एक जैसी नहीं है। तब हम भी इसकी एक नई व्याख्या करेंगे, जो हमारी संस्कृति के अनुरूप होगी। फिर तो अंग्रेज सीधे उनकी आस्था पर ही चोट पहुंचाने लगता है। मानता है कि जब तक यह डिंगडेई का देववृक्ष रूपतिल्ली पहाड़ी के माथे पर खड़ा रहेगा, तब तक यह जाति नष्ट नहीं होगी। मुगल सेनापति मीर जुमला इसे आजमा चुका है। अंग्रेज उसे कटवा देता है। इससे जाति का मनोबल टूटता है। कौम हार जाती है, पर अपनी लड़ाई बंद नहीं करती। वह अगली पीढ़ी के हाथों में सरका देती है।

2

इधर जनजातियों के बीच हमारे कई रचनाकार विचर रहे हैं। वहां की स्त्रियों में उन्हें अछूत सैक्स नजर आ रहा है। डॉ. रामशरण जोशी ने तो अपनी आत्मकथा में जाने किसको-किसको मात कर दिया है। श्रीप्रकाश मिश्र की निगाह उस पर कम ही जाती है और ऐसा नहीं है कि वे उनके सैक्स जीवन की बारीकियों को नहीं जानते। खूब जानते हैं, ऐसा मौका आने पर झलक जाता है, पर उनकी निगाह दरअसल उनके संघर्षों पर है। स्वतंत्र जीवन बिताने के लिए नजवा तेजपात की पत्तियां इकट्ठी करती है, आलू की खेती में जान लगा देती है, जिसे वह ददनी देने वाले ठीकेदार को न बेचकर बाजार में खुले भाव पर बेचना चाहती है। अलखा आवरी अपने राजा के दुश्मन के रहस्य को जानने के दौरान उस वृद्ध राजा की अंकशायिनी तक बनती है और जब उसे पता लगता है कि इसका उपयोग अंग्रेज अपने हित साधन के लिए करेगा, तो वह प्रेमी पति को मोर्चे पर भेज देती है। दूसरे मर्द से फिर एक बच्चा पैदा करती है, जिसे तीर-धनुष चलाना सिखाती है, उनमें वीरता भरती है। आजकल के लिखे-पढ़े लोगों के बच्चों की तरह बनाने के लिए अनुकूलित नहीं करती। यह बात उपन्यास को आज के संदर्भों से जोड़ती है और एक संदेश देती है कि अमेरिकी यूरोपीय एकाधिकार से बचने के लिए जरूरी है कि हम विलास की जिंदगी के लिए मृत वस्तुओं की खरीद पर जोर देने के बजाय प्रतिरोध की क्षमता अपनी संततियों में विकसित करें।

दूसरी तरफ यह उपन्यास बने-बनाए पात्रों, बनी-बनाई स्थितियों और बनी-बनाई परिस्थितियों वाली रचनाओं से काफी अलग-थलग है। इसी नाते इसमें जो जीवन छलकता पड़ा है, वह 'गगन घटा गहरानी', 'छाड़न' ओर 'इतिहास में नहीं है, जो' से गायब है। हालांकि ये तीनों ही उपन्यास जनजातियों में संघर्ष को ही केंद्र में रखकर लिखे गए हैं। कारण यह है कि श्रीप्रकाश मिश्र उनके बीच रस-बसकर लिखते हैं। इसलिए उनकी एक-एक बात न केवल प्रामाणिक होकर निकलती है, उनके जीवन की विशेषताओं से लबरेज होकर निकलती है। उसके लिए वे एक उम्दा भाषा का निर्माण करते हैं, जिनमें जनजातियों के शब्द घुले होते हैं, जो हमारी आत्मा से उनकी संवेदना का सीधा साक्षात्कार कराते हैं। तब लगता है कि आदमी चाहे, जहां का हो, उसका दुःख-सुख वही होता है। प्रकृति के सौंदर्य को देखकर, बच्चों के लिए अपने हाथों से एक खिलौना बनाकर, अपने भोजन को अपने हाथों से संग्रह कर, अपनी स्वतंत्रता के लिए छटपटाकर, अपने प्रेमी के पीछे भागते हुए, अपने जातीय कर्तव्य को पूरा करते हुए, वह वही सुख प्राप्त करता है, जो किसी भी समाज का संवेदनशील आदमी प्राप्त करता है। उसमें स्थानीय वातावरण का प्रामाणिक चिंतन और भी रंग भर देता है।

3

श्रीप्रकाश मिश्र तो इन हाशिये के लोगों में भी उन लोगों के बारे में लिखते हैं, जो दूसरों के लिए हाशिये से भी बहिष्कृत हैं। उन्हें मुख्यधारा के हिंदी रचनाकार सिवाय अखबारों के माध्यम से जानते तक नहीं। श्रीप्रकाश मिश्र उनके बीच रच-बसकर लिखते हैं। प्रमाण है उनके मिथकों का उपयोग। मिथकों, पुराण कथाओं और आख्यानों को केवल इस कारण असंगत और अर्थहीन कहकर त्याग नहीं देना चाहिए, क्योंकि ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में उनकी पुष्टि नहीं की जा सकती। वे जातीय स्मृतियों के वाहक होते हैं और उनका महत्त्व यह है कि वे इतिहास और समाजशास्त्र का ऐसा प्रछन्न आधार होते हैं, जो इतिहासकार और समाजशास्त्री के सामान्य शोध-उपकरणों की पहुंच से परे होते हैं। रचनाकार उनके बल पर एक पूरी-की-पूरी जाति का साक्षात्कार करा देता है, उसकी वास्तविकता ही नहीं, उसकी चाहत से भी।

'रूपतिल्ली की कथा' का महत्त्व पाठकों के लिए इसलिए भी बढ़ जाता है कि वहां पुराण कथाएं इतिहास से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उन्होंने मनुष्य की कल्पना को गढ़ा है, संवारा है, जो इतिहास के बस का नहीं। इसलिए श्रीप्रकाश मिश्र भले ही अपनी कृति को एक गप्प कहें, पाठक एक कल्पित यथार्थ के देश में ले जाता है, जो साक्षात् से अधिक बलवती है। वह 1857 की आजादी की लड़ाई की पूर्व पीठिका प्रस्तुत कराता है, थोड़े-से ही देश-काल में सही और इस मामले में वह इतिहास का पुनर्सृजन करता है। दरअसल हर देश में पुराणकथा ही इतिहास की जननी रही है, लेकिन भारत में अन्य देशों की तुलना में अधिक। भारत में इतिहास की यह जननी आज भी जिंदा है और जनजातियों के अंचल में तो और भी शक्ति के साथ, जहां इतिहास आख्यानों, मिथकों, पुरा कथाओं को अपदस्थ करने में आज भी सफल नहीं हुआ है। श्रीप्रकाश मिश्र ने उनका उपयोग एक इतिहास रचने के लिए किया है। इसलिए इस उपन्यास को 'ऐतिहासिक उपन्यास' की कोटि में रखा जा सकता है। कहा जा सकता है कि इसने एक नई पुराण कथा को जन्म दिया है, जो वहां के लोक मानस पर हावी है। हिंदी ही नहीं, भारतीय उपन्यास आज किस मंजिल पर पहुंच गया है, उसकी चिंता का दायरा कितना बड़ा हो गया है, उसे जानने के लिए 'रूपतिल्ली की कथा' एक उम्दा कृति है।

रूपतिल्ली की कथा/श्रीप्रकाश मिश्र/लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद/मूल्य : ` 300

1, विसंज एपार्टमेंट्स, जूना वाड्ज, अहमदाबाद (गुजरात)-380019

अभेद्य अंधेरा

रजनी गुप्त

वरिष्ठ कथाकार शैलेंद्र सागर के इस नए उपन्यास में भारतीय समाज के हाशिये पर फेंके गए दलित वर्ग के साथ बरते गए सामाजिक भेदभाव और छुआछूत की समस्या पर नए ढंग से फोकस किया गया है। दलितों के सशक्तीकरण के इस अधुनातन दौर में भी उनके साथ किस कदर सियासी चालें चली जाती हैं एवं किस कदर एक दलित स्त्री रसोइए की प्राइमरी स्कूल में नियुक्ति को लेकर गांव में हलचल मच जाती है, जैसे कोई बड़ा तूफान आ गया हो। चमार जाति की स्त्री को लेकर जातिवादी सियासत और राजनीति के दांवपेंच का निर्मम खेल खेला जाता है। वाकई यह हमारे समाज का भयावह यथार्थ है कि मध्याह्न भोज योजना के तहत चुनी गई दलित समाज की स्त्रियों को तमाम कहे-अनकहे अवरोध, घर-बाहर के तानें व अपमान झेलने पड़ते हैं। यह उपन्यास *मिड डे मील* की पृष्ठभूमि पर आधारित गांवों में व्याप्त छुआछूत व जातिवादी/दलगत राजनीति के साथ पिसते आम जन की विडंबना पर पूरे पैनेपन से प्रहार करता है।

दलित जाति की स्त्री द्वारा सवर्ण बच्चों के लिए मध्याह्न भोजन तैयार किया जाना, गांव के सवर्णजनों को रुचता नहीं, सो स्कूल में तैनात प्रधानाध्यापक, अन्य अध्यापक समेत तमाम कर्मचारी प्रत्यक्ष व अपरोक्ष रूप से उससे खाना न बनवाने की चालें चलने में जुटे रहते। धीरे-धीरे यह उपन्यास प्रशासनिक व्यवस्था से जुड़े कई पेचीदे सवाल खड़ा करता है। एक तरफ वोट की खातिर दलित स्त्री की स्कूल में मिली नौकरी पर सवालिया निशान लगाने वाले लोग हैं, तो दूसरी तरफ स्कूल से जुड़े इतर पक्ष वालों द्वारा दलित स्त्री के साथ छुआछूत भरा बर्ताव एवं उस स्त्री के प्रति सार्वजनिक रूप से बेगानों जैसा बर्ताव उसे अंदर से तोड़ डालता है। उसके प्रति दर्शाया जाता ऐसा असमान बर्ताव उसे अपना अपमान लगता है, क्योंकि उसे इसका अहसास कराया जाता है कि सवर्ण बच्चे एक चमारिन के हाथ से बना भोजन भला कैसे खा सकते हैं? दरोगा, थानेदार से लेकर पुलिस के तमाम उच्चाधिकारियों और नौकरशाही व मंत्री-विधायक की दुरभिसंधि को उद्घाटित करता उपन्यास जनतांत्रिक व्यवस्था पर कड़े प्रहार करने से कतई नहीं चूकता। मसलन—

'लगना यही चाहिए कि पुलिस पूरी संजीदगी से जांच कर रही है ताकि किसी शिकायत की नौबत न आए। अरे भाई! पुलिस क्या सारे काम सुबूत के आधार पर करती है? तब तो एक दिन थानेदारी नहीं कर पाओगे?'

ऐसी व्यवस्था के खिलाफ कई सारे सवाल खड़ा करता उपन्यास समरस समाज के पीछे छिपे विद्रूप व व्यवस्था की नाकामियों को पूरे साहस से उजागर करता है। केंद्रीय स्त्री पात्र रामरती व उसके पति जग्गू को धीरे-धीरे इस विकलांग लोकतांत्रिक व्यवस्था की साजिश का निर्दोष शिकार बनना पड़ता है। सच तो यह है कि राजनीति, नौकरशाही एवं पुलिसिया आतंक वाली कार्यशैली के दुष्चक्र में फंसती रामरती जैसे पात्रों को कई-कई मोर्चों पर एक साथ लड़ने के लिए मजबूर किया जाता है। ये सचमुच कितनी बड़ी चिंता की बात है कि आजादी के इतने दशक बीत जाने के बावजूद हाशिये पर खिसकाए गए दलित वर्ग का सामाजिक जीवन आज भी उतना समरस, समृद्ध एवं अन्यों के समकक्ष नहीं आ पाया। क्यों है ऐसा? यह सोचने की बात है, जिसे ये कथ्य पूरी निर्ममता से उधेड़ता जाता है। कभी गांव के प्रधान पर बच्चों का वजीफा, मरम्मत का पैसा और राशन सामग्री में धांधली का आरोप लगाया जाता तो कभी गांव के ठाकुर के सहयोग से प्रधान के खिलाफ रपट लिखाई जाती और परिणामस्वरूप उसका निलंबन और फिर जेल की सजा।

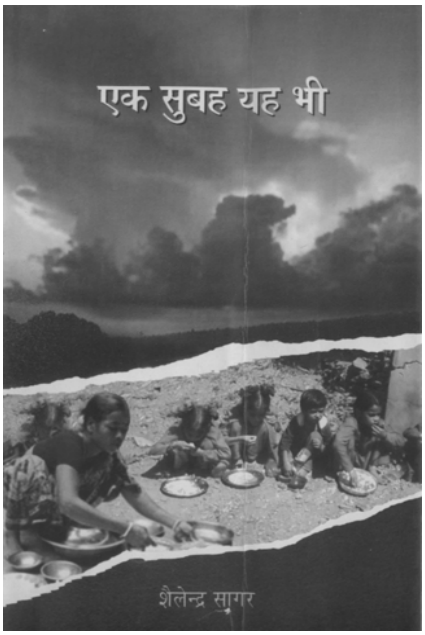

कभी ठाकुर लॉबी, तो कभी प्रधान लॉबी, तो कभी स्कूल लॉबी, जो दिखावे के लिए सार्वजनिक तौर पर सामाजिक समरसता के पुरजोर समर्थक बनने का ढोंग रचते हैं, लेकिन उनके अंदर गहरे समाई है पदलिप्सा, सत्ता की भूख और जातिवर्चस्व के जरिए येन-केन-प्रकारेण फायदा उठा लेने की चालें-कुचालें। कुल मिलाकर प्रशासनिक तंत्र किस कदर एक वंचित, मासूम व निर्दोष पात्र को जीते जी मौत के मुहाने पर ला खड़ा कर देता है, यही है इसका केंद्रीय कथ्य। यहां जनतंत्र की उस विकलांगता को तार-तार कर दिया जाता है,

जहां हम समानता, स्वतंत्रता और लोकतंत्र की दुहाई देते नहीं थकते।

चूंकि इस औपन्यासिक कृति की कथा-भूमि के ब्यौरे वास्तविक यथार्थ से लिए गए हैं, इसीलिए यह आख्यान वृतांतमूलक ज्यादा बन पड़ा है। मुख्य कथा, यानी दलित रसोइया स्त्री की नियुक्ति से उभरते सियासी दांवपेंच व दुष्चक्रों से जुड़ी बातें यथार्थपरक, सरल-सहज भाषा के सहारे उकेरी गई हैं। सत्ता संरचना के चक्रव्यूह में पिसती आम स्त्री की इस त्रासद सचाई का क्रूर व बेबाकी से चित्रण देखते ही बनता है। लेखक का वक्तव्य कितना खरा व सच्चा है, 'नेता का बस चले तो विरोधियों को खड़ा करके तोप के गोले दाग दे। जमानत अदालत ने दी है और कटघरे में खड़ी है पुलिस। तमाम फर्जी काम किए, पूरी तफ्तीश फर्जीबयानों से भरी पड़ी है, झूठे मुकदमे कायम करके अपने इलाके के जुर्म को बढ़ाया और नेता है कि धमकाते ही रहते हैं।' इसी उपन्यास में से।

शुरू से आखिर तक एक समान गति से चलती कथा में सत्ता द्वारा रोंदे गए भारतीय समाज के हाशिये पर पड़े दलित वर्ग के संघर्ष, चकनाचूर किए जाते उनके सपने और स्त्री की लाचारी, बेबसी, मानसिक बेचैनी, उद्वेलन और फिर जिजीविषा के अनगिनत रंग व रूपों को शिद्दत से दर्ज करता उपन्यास परंपरागत शिल्प के सहारे एक नए व अछूते विषय की त्रासदी को पूरी गंभीरता व संलग्नता से उभारता है। राजनीति के समीकरण के बनते-बिगड़ते खेल को पूरे रचनात्मक साहस के साथ एवं मौजूदा यथार्थ का दामन न छोड़ते हुए आज के दौर में अभिव्यक्ति के खतरे उठाने वाली बात है। सच तो ये है कि मौजूदा दौर में शाइनिंग इंडिया की तर्ज पर दलितों को लुभावने व चिकने चमकीले सपने तो खूब दिखाए जाते हैं, परंतु हकीकत में सत्ता की बाजीगरी में फंसे ऐसे लाचार, निरीह व निर्दोष आम जन का भावात्मक शोषण करते हुए उन्हें इस दोगुली सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ आर्थिक मजबूरी को झेलते रहने के लिए अभिशप्त रहना पड़ता है, क्योंकि राजनीति के जटिल व चक्करदार रास्तों पर चलने के लिए अभी उनके अंदर अपेक्षित साहस, आत्मविश्वास, चालाकी व कूटनीतिक दक्षता अर्जित करना बाकी है।

संभवतः ब्यौरों व घटनाओं की अतिशयता के चलते उपन्यास में कथा भीतर अंतर्कथाओं की अपेक्षित अनुगूंजें कहीं नहीं सुनाई पड़ती, न ही कथ्य में अवांतर प्रसंगों को पर्याप्त स्पेस देते हुए कथा रस को संवर्धित करने वाले अन्यांतर रोचक प्रसंग आ पाए हैं। बावजूद इसके, मिड डे मील जैसे अनछुए व चर्चित विषय के बारीक तंतुओं को पकड़ने का रचनात्मक कौशल कथाकार के पास है, जिसके चलते यह यथार्थपरक आख्यान पूरी विश्वसनीयता से सच की सख्त जमीन पर चलने का रचनात्मक साहस अर्जित कर लेता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कथाकार राजनीति, पुलिसिया तंत्र व प्रशासनिक मशीनरी से जुड़े अनाम, अभेद्य अंधेरों की दीवारें फांदकर पाठकों को बाहर फैलती सुबह की रोशनी की पहली किरण तक पहुंचाने में कामयाब रहा है।

एक सुबह यह भी/शैलेंद्र सागर/सामयिक प्रकाशन, 3021-22, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 360

5/259, विपुल खंड, गोमतीनगर, लखनऊ (उ.प्र.), मो. 09452295943

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने—एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

नीच ट्रेजेडी का बेचैन अनुभव

महेश कटारे

किसी अनुभव की रचना जटिल और संश्लिष्ट होने के कारण उसमें बहुआयामी तथा अपनी ही अंतर्क्रिया में आलोकित वस्तुसत्य किस तरह रूपायित होते हैं, इसका उदाहरण है, दूधनाथसिंह का कथा-संग्रह—'तू फू'। अंतर्बाह्य देश, प्रतीति और परिवेश से व्यक्ति की सघन, बहुस्तरीय मुठभेड़; जिस सामाजिक-यथार्थ में पर्यवसित होती है, वहां लेखक अपनी दृष्टि संपन्नता के साथ जीवन के आवेग को आकार देने के प्रयास में एक प्रतिसंसार रचता है। वह प्रतिसंसार, जो दी हुई दुनिया के बेहतर विकल्प का ख़ाका खींचता दिखाई दे, क्योंकि कहानी मात्र अनुभव का बयान या बखान ही नहीं, बल्कि उसके तार्किक, मानवीय निष्कर्ष का संकेत भी है।

'तू फू' संग्रह की कहानियों पर चर्चा से पहले मैं इसी संग्रह से कुछ पंक्तियां उद्धृत करना चाहूंगा, ''मेरे पास किसी बात का कोई उत्तर नहीं था। जैसे किसी भी लेखक के पास नहीं होता। हालांकि लोग चाहते हैं कि उसके पास उत्तर हो। एक लेखक को मारने के लिए सभी 'विद्वान' हो जाते हैं, सभी 'सजेस्ट' करने लगते हैं, सबके तर्क जाग्रत हो जाते हैं, सबके अनुभव उफान मारने लगते हैं, सबकी हिंसा जाग उठती है, लेकिन जो लेखक है, उसके पास कभी उत्तर नहीं होता। वही उसका 'उत्तरदायी' होता है।''

उक्त अंश 'नव्य न्याय' कहानी से है। नव्य न्याय वैशेषिक पद है और यह जाने बिना कहानी अपने पूरे वैभव के साथ नहीं खुलेगी कि 'न्याय दर्शन' की नई शाखा 'नव्य न्याय' लगभग 1200 ई. में प्रारंभ हुई, जिसमें 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान' और 'शब्द', इन चार प्रमाणों की व्याख्या है। नव्य न्याय आध्यात्मिक अथवा धार्मिक अंगों की चर्चा (के अनिश्चय) में न जाते हुए किसी भी विचार अथवा कल्पना को विशुद्ध व निश्चित अर्थों में समझने और प्रस्तुत करने का हामी है।...तो 'नव्य न्याय' कहानी में लेखक पाठक को साथ ले उन गलियों में घुसता है, जिनमें धर्म और विद्वत्ता की बदबू बसी है' (क्योंकि वहां इसका व्यापार है)। पीढ़ियों से लोग इनमें रह रहे हैं और उन्हें इस बू की 'आदत' हो चुकी है।

इस कहानी से पहले लिखी गई कहानी है—'माननीय न्यायमूर्ति और सन्नाटा', जिसमें माननीय न्यायमूर्ति लोगों से दूर बाड़ से घिरे संरक्षित सन्नाटे में बसते हैं...अजूबे और आतंकित करने वाले होते हैं। उनके 'न्याय का तकाजा है कि उसके बारे में सड़क पर बात न हो।' इनकी आपसी बातचीत भी

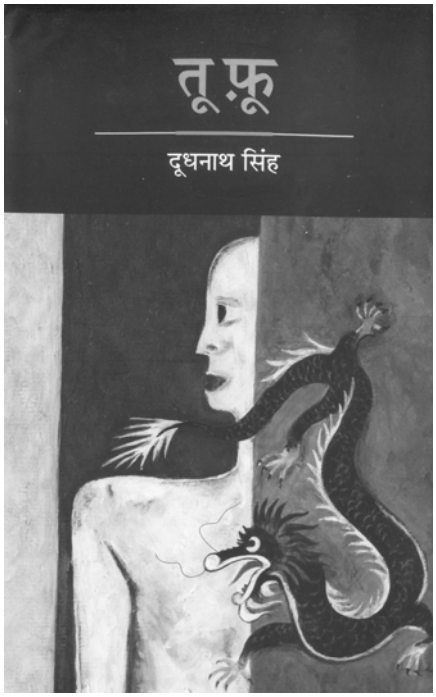

अपने बगीचों, मौसम और खुशबू तक सीमित रहती है। 'नव्य न्याय' के विश्वप्रसिद्ध नव्य नैयायिक (वृद्ध) शास्त्रीजी जनसंकुल गलियों के बीच हैं। दोनों कहानियों व चरित्रों के बीच सेतुसूत्र 'न्याय' है। 'न्याय' का प्राचीन आशय है—'उचित अर्थों का निश्चय करना' और आधुनिक आशय?...इसे खोजने के लिए खूब मगजमारी करनी होगी, क्योंकि जिन न्यायमूर्तियों के आसपास न रोना (दुःख) ठहर पाए, न बांसुरी (गीत) वहां के आतंकभरे सन्नाटे में कोई शाह पाना कठिन है। कहानी बहुत सधे ढंग से व्यंजना में शुरू होती है। लगभग परसाई के कहन में चिकौटियां काटते हुए। यथा—'न्यायमूर्ति सार्वजनिक रूप से खांसते-खंखारते नहीं...छींकते तो बिल्कुल नहीं'। 'न्यायमूर्तियों को सार्वजनिक रूप से मजाक नहीं करना चाहिए'।

यह व्यंजना धीरे-धीरे विडंबना की ओर बढ़ती जाती है और न्यायमूर्तियों के लंच समय में आते-जाते हुए सड़क पर सन्नाटा रहे, इसके लिए कभी-कभी कूं-कूं कर उठने वाले पिल्लों के साथ मानसिक तौर पर कमजोर एक बारह-तेरह वर्ष के बावले बच्चे को भी पकड़कर कुत्तागाड़ी में पटक लिया जाता है। मकान-मालिक लोग खुश हैं और माननीय न्यायमूर्तिजी संतुष्ट हैं कि उनके आसपास अब कोई 'आवाज' नहीं, जबकि 'नव्य न्याय' के वृद्ध, अशक्त, टूटी चप्पल वाले शास्त्री गलती पर 'गलत-गलत' उंगली उठाते हैं।

'तू फू' में स्थिति यह है कि घर की 'दीवारों को दमा है'...'बच्चों के भीतर एक डरा हुआ अंधेरा बैठा है'...हड्डियां ढोने वाले खुश हैं कि—'इस दफ़ा जो जंग हुई, वो कितने काम की थी। हड्डियों की खाद से इस बार फ़सल अच्छी होगी।'

तू फू कौन है? कविताएं लिखता था ...संगीत सिरजता था (है)। बादशाह सलामत का दुलारा। सामंत,सरदार, दरबारी, मुखिए और बागी—सभी अपनी औरतों की सेज पर कामुकता का दौर खतम होते ही उसकी कविताओं का पाठ करते। वे—

'सारे दरबारी और युद्ध सरदार सोचते हैं कि कब नए बाश्शाब को पेशाब लगे। सारे लोग हमेशा अपना मुंह आधा खुला रखते हैं। वे भर लेंगे और बाहर जाकर उगालदान में उगल देंगे। फिर कुल्ला भी नहीं करेंगे। मुंह पोंछते-मुस्कराते अपने आसन पर आ जाएंगे।'

तू फू इस निजाम में रहकर जीने को विवश है।...क्यों? इतनी तल्ख और अपनी हद तक पहुंची शिष्ट गाली दूधनाथ सिंह की स्याही से यूं ही नहीं लिखी गई। पाठक जानते हैं कि दूधनाथ सिंह रचना के स्तर पर बेहद सतर्क, प्रवीण हैं। शब्द संयम और अर्थनिष्पत्ति के प्रति अनुमान से ही सावधान। तो क्या यह भाषा सह निजाम में जीते आदमी की आखिरी चीख' है। ध्यान रहे कि वह 'आख़िरी कलाम' लिख चुके हैं तथा इसी संग्रह में उनकी कहानी है—'आख़िरी छलांग', जिसमें वह अपने गुरु का गोबर टारता है। 'जो कला उसके पास थी, उसके लिए यह अधम काम था।' पर यही नियति है उसकी। गोबर टारने की कला से ही ऊंचे और ऊंचे चढ़ता जाता है और अंततः ऊपर से छलांग लगाकर धरती पर मांस के मृत लोथड़े के रूप में आ गिरता है।

फिर वह कहानी 'दो पीढ़ियां'। छोटी-सी कहानी, जिसमें कोई संवाद नहीं। संवाद न होना मनुष्य के प्रेत होकर भटकने की स्थिति है। ये कहानियां कोई अबूझ-सा तनाव लेकर बोतल की तरह चेतना पर लद जाती हैं कि प्रश्न का उत्तर खोजो, नहीं तो सिर टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। पाठक यंत्रणा के खदबदाते ऊसर में धंसता, तिल-तिल डूबता छटपटाकर आतंक से उबरने की कोशिश करने लगता है। संग्रह की कहानियों को एक संग एक दौर में नहीं पढ़ा जा सकता, जैसे आप अलग-अलग अंधेरे कुओं में एक के बाद एक अविराम छलांग नहीं लगा सकते। एक से निकल, उबरकर ही आप दूसरे अंधेरे में धंसने की सामर्थ्य समेट पाएंगे। जाने क्यों लगता है कि इन कहानियों

में मुक्तिबोध की बेचैनी, दहशत, आत्मसंघर्ष का ऊर्ध्व पाठांतर है। मुक्तिबोध 'नीच' नैतिकता के माध्यम से सफल और महत्त्वप्राप्त व्यक्ति को मनुष्य की त्वचा का ओवरकोट पहनने वाला मानते हैं तो तू फू में हड्डियों का पहाड़ खड़ा करने वाले हैं, जो खुश होते हैं कि हड्डियों की खाद से अच्छी फ़सल मिलेगी। मुक्तिबोध की तरह शायद कथाकार को भी यह उम्मीद हो कि रचना की जहरीली कड़ुआहट, अकुलाहट से संवेदना उत्तेजित हो और आदमी अंधकार त्याग प्रकाश के सुनहले मैदान की ओर दौड़ पड़े। तमसो मा ज्योतिर्गमय...। एक बात यह भी देखने को मिलती है या इस पर ध्यान जाता है कि दूधनाथ सिंह भारतीय पुराचिंतन का हठी, जड़ प्रतिवाद नहीं करते, अपितु उसे नव्य प्रयोग की संगति में समझने का प्रयास करते हैं 'नव्य न्याय' के साथ 'पश्यति इति पशु' जैसी व्याख्या इस धारणा को पुष्ट करती है। 'एक सनातन प्रेम कथा' में भी इसका प्रभाव है। यह कहानी पांवों की तुलना में पंखों पर अधिक चलती है—माने यहां से उड़ वहां...वहां से तहां...फिर जहां कहां। इसका रचना समय भी खूब लंबा है—1994 से 2001 तक। आठ वर्षों तक ठहर-ठहरकर चली इस कहानी में 22 चरण या पड़ाव या मरहले हैं। कहा जाता है कि सत्य कल्पना से अधिक विचित्र होता है। ऐसे विचित्र और भयानक सच से साक्षात्कार 'एक सनातन प्रेम कथा' में देखा जा सकता है। इसे लेखक ने फैंटेसी कहा है और साहित्य में फेंटेसी की जादुई प्रविधि अपनाने के तीन प्रकट कारण होते हैं—एक, कि वस्तु सत्य को उद्घाटित करने वाले सही शब्द-संयोगों का अभाव हो। दो, लोकचेतना के साहचर्य में यथार्थ की खोज का उपक्रम। तीसरे, अदम्य पीड़ा के तीव्र अनुभव की सानुरूपक अभिव्यक्ति। मूल वही है रचनात्मक तनाव और बेचैनी। आठ वर्ष के निरंतर तनाव को कथारूप देना किसी जलती हुई नदी को ठहर-ठहर, पुनि-पुनि पार करने जैसा अनुभव है और यह कहानी स्वयं में किसी उपन्यास का डौल या विग्रह भी समाए हुए है।

संग्रह की कुल चौदह कहानियों में कुछ ऐसी भी हैं, जो चतुर नार के हाथों रांधी हुई रसोई की भांति स्वभावतः स्वाद देती हैं। न होतीं तो भी अधिक अंतर न पड़ता। वैसे यह भी है कि जीवन को व्यापक, गहन संदर्भों में देखे जाने के बीचो-बीच अनेक छवियां सिर उठाकर झांकती हैं, कहानी मानवीय अनुभव की पुनर्रचना ही तो है, जिसमें कथा विन्यास, व्यापार कथाकार के व्यक्तिगत अनुभव से पुष्पगंध की भांति समाहित रहता है और यही व्यक्तिगत अनुभव सामाजिक अनुभव की विशिष्टता प्राप्त कर वस्तु तत्त्व को कहन प्रविधि के संयोग से सार्वजनिक, सार्वकालिक स्तर की ओर ले जाता है।

वे कुछ कहानियां भी, वे तो निश्चय ही नहीं हैं, जिन्हें भामह काव्य के संदर्भ में 'अन्य सारस्वत' कहते हैं '...अन्य सारस्वतानाम अन्योक्तानुवादिनः' अर्थात् बैठे ठाले देखादेखी या फैशन के अनुसार। तनाव की तीव्रता वहां भी है। इसके आगे भी विचार योग्य कहानियां हैं—

'आपको नहीं लगता कि यह दुःस्वप्न है? और दुःस्वप्न एक आदमी है।' यह वाक्य है—इसी संग्रह की कहानी—'नाम में क्या रखा है' से। 'नाम में क्या रखा है' वाक्य भी शेक्सपीयर के नाटक 'रोमियो जूलियट' की बहुप्रचलित उक्ति है। इसके बरक्स ठीक उसी कालखंड के आसपास तुलसीदास ने कहा था, 'देखियत रूप नाम आधीना' अर्थात्

नाम से रूप को पहचान मिलती है, पर वह एक कहानी है। कहानी में समय है...समय में हलाकू है। हलाकू कितने तो वेष धर लेता है? कितने तो कत्ल करता, करवाता है? इलेक्शन लड़ता है।—

'हर जगह हलाकुओं का ही शासन है। गज़ब है कि हलाकू एक जिन्न का नाम है, भारतीय प्रजातंत्र में, जो हर बार बोतल फोड़कर निकल आता है और चिंघाड़ता है।'

इस जिन्न को हम प्रायः सभी मतपेटी फोड़कर निकलते और चिंघाड़ते, आगे कहें तो प्रजा (तंत्र) को रोंदते भी देखते हैं। अपराध व राजनीति के गठजोड़ में प्रजा पर बला...घात और लोगों के कायर स्वीकार को जाहिर करने वाली इस कहानी को '1857 की गाली' से जोड़कर पढ़ने पर जैसे धरती के बीचोबीच एक भयावह दर्रा खुलता है...1857 में ब्रिगेडियर हैवलॉक की फौज कानपुर से लखनऊ की ओर बैसवाड़े के रास्ते पर धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। उसके पास तोप, तलवारें, बंदूकें, घोड़े, हाथी, पैदल रसद-पानी सब कुछ था, जिसे ललकारती एक अकेली औरत फेंटा कसे हुए, दोनों हाथों में दो नंगी तलवारें लिए किसी चुनौती की तरह आगे खड़ी हो जाती है। यह दुर्दम्य औरत अंग्रेज फौज से नहीं, अपने ही पैदा किए हुए की ग़लीज़ गाली से हार जाती है। उसका साहस घुटने टेक देता है।...वह औरत मां थी। जाहिर है भारत की मां ही रही होगी। लेखक का कहना है (स्वप्न भी)—'मैं उस गाली को कहानी से हटाना चाहता हूं।'

वस्तुतः 'तू फू' की कहानियां समय और अपने आपसे सतत युद्ध की कहानियां हैं, जिनमें यह चिंता बसी है कि इन बाश्शाहों, हलाकुओं के निज़ाम में मानवीय अनुभव को कैसे सुरक्षित रखा जाए? इनमें ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य दो कठिन पाटों के बीच फंसा, वेदना के स्रोत को संगत, पूर्ण निष्कर्षों तक पहुंचाते छटपटा रहा है। कहानियां आमंत्रण हैं, यंत्रणा के इस अभियान में शामिल होने को।

तू फू/दूधनाथ सिंह/साहित्य भंडार, 50, चाहचंद, इलाहाबाद/ मूल्य : ` 200

निराला नगर, सिंहपुर रोड, मुरार, ग्वालियर-474006 (म.प्र.) मो 09425354213

कहानी

औरत के हिस्से का आसमान मांगती कहानियां

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

अपनी वैचारिक कृति 'आम औरत : जिंदा सवाल' की कई टिप्पणियों में सुधा अरोड़ा ने पुरुष-वर्चस्व वाले समाज में औरत के मौन भाव से सब कुछ सहते जाने की विडंबना को बार-बार रेखांकित किया है। अतः यह आकस्मिक नहीं है कि उनकी कहानियों में भी औरत के चुप रहने की पुरुष-अपेक्षा के अंतर्विरोधों, दुष्परिणामों और कुरूपताओं को केंद्र में रखा गया है। औरत का पथराया मौन उन्हें निरंतर व्यथित और चिंतित करता है तथा उसके प्रतिवाद की भंगिमा या क्रिया उन्हें आश्वस्त करती है। चाहे सद्यःजात मादा हो ('बड़ी हत्या, छोटी हत्या'), चाहे अट्ठाइसवां बसंत देखने को तरस गई सुनयना (तीसरी बेटी के नाम—ये ठंडे, सूखे बेजान शब्द') हों, या शादी से डरने वाली अन्वेषा ('पीले पत्ते') हो या अपने बच्चे की इच्छा में जड़ होती गई छोटी माँ (डेजर्ट फोबिया उर्फ समुद्र में रेगिस्तान) या दो नन्ही बच्चियों की मां (अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी) हो, स्त्री की नियति मृत्यु है। यह कहीं सीधे-सीधे हत्या है तो कहीं 'आत्महत्या' के रूप में भी हत्या ही है। कहीं उपेक्षा, अपमान की स्लोप्वायजनिंग है तो कहीं पुरुष के स्वेच्छाचार ने स्त्री को गहरे मानसिक अवसाद की दलदल में फेंक दिया है। सुधा अरोड़ा स्पष्ट रूप से पीड़ित-वंचित स्त्री की पक्षधर हैं। यह पक्षधरता 'विमर्श' मात्र न होकर स्थितियों-मनःस्थितियों के गहरे वस्तुनिष्ठ विश्लेषण से संश्लिष्ट मार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में कहानियों में उपस्थित है।

'बड़ी हत्या, छोटी हत्या' में जन्मते ही छोरी को मार दिया जाता है। पहले कभी कुलीनता का अहं इसके पीछे होता होगा? अब हमारी मौजूदा व्यवस्था में जड़ जमा चुका अमानवीयकरण इसके लिए जवाबदेह है। जब छोरी को युवा होकर दहेज जैसी विभीषिकाओं का आखेट बनना ही है तो एक अन्य स्त्री—सास का इस निष्कर्ष पर पहुंचना कथित संस्कृति, आधुनिकता, जनतांत्रिक व्यवस्था को मुंह चिढ़ाता है 'बीस बरस पाल-पोसकर आधा घर बांध के देवेंगे, फिर भी सासरे दाण-दहेज में सौ नुक्स निकालेंगे और आधा टिन मिट्टी का तेल डाल के फूंक आएंगे। उस मोठे जंजाल से यो छोटो गुनाह भलो।' इस तरह के कुतर्क भयावह यथार्थ के व्यंजक हैं, लेकिन इनसे भ्रूण हत्या या शिशु हत्या का औचित्य सिद्ध नहीं होता। अन्नपूर्णा मंडल सरीखे चरित्रों को छोड़ दें तो सुधा अरोड़ा के अधिकतर स्त्री-चरित्रों में जिजीविषा है, संघर्ष-क्षमता है और सांकेतिक ही सही, प्रतिवाद की चेतना भी है। 'तीसरी

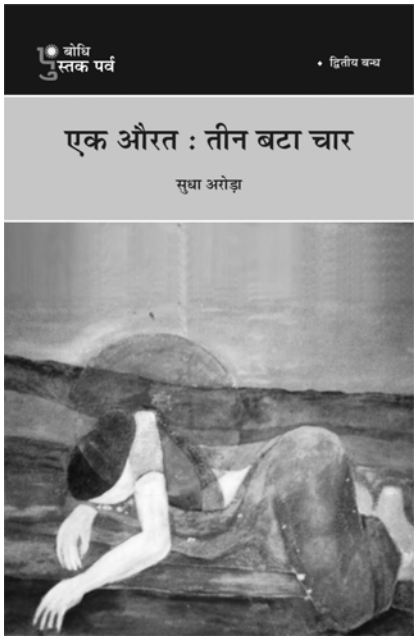

बेटी के नाम—ये ठंडे, सूखे बेजान शब्द' में सुनयना जूझकर मरी है... ''इस नई जिंदगी ने तुझमें जीने का, लड़ने का नया हौसला भरा। तूने अपने पैरों के नीचे की जमीन को पहचाना। इस पर तुझे चलकर दिखाना है और अपने हिस्से का आसमान मुट्ठियों में बंद करना है, यह तूने ठान लिया था।' 'करवाचौथी औरत' में लोकजीवन से निथरा सत्य—'अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो' केंद्रस्थ है। सविता अगले जन्म में घर की पालतू कुतिया बनना चाहती है, क्योंकि घर में उसकी हैसियत सविता से कई गुना बेहतर है। 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' का अंत नकारात्मक और निराशाजनक है और रूढ़िग्रस्त मध्यवर्गीय समाज में स्त्री की हैसियत को केंचुओं की तरह दयनीय माना गया है, लेकिन इसमें स्त्री के असमान छूने की कामना को मूल्यवान ठहराया गया है। हालांकि पुरुष-वर्चस्व स्त्री के स्वप्न, स्वाभिमान और उन्नयन को कुचलकर सुख पाता है। सुनयना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है : '...तूने पंख फैलाकर आसमान की थाह लेनी चाही थी, घर की चौहद्दी में छिटक-छिटक जाती थी तू? क्यों इतने विकल्प थे तेरे पास पति की दुनिया से अलग भी?...तूने खुद अपना अंत किया। तेरी यह सजा तो सदियों पहले से तय की जा चुकी थी।' इस कहानी के समापन चरण को सभी कहानियों की केंद्रीय संवेदना के रूप में स्वीकारा जा सकता है : 'तुझे तो फिर-फिर वही बनना है। फिर-फिर औरत! सौ जन्मों तक औरत! तब तक औरत, जब तक तेरे हिस्से का आसमान, तेरे और सिर्फ तेरे नाम न कर दिया जाए।'

'रहोगी तुम वही', 'एक औरत : तीन बटा चार', 'नमक', 'पीले पत्ते', 'डेजर्ट फोबिया' आदि कहानियों में पति-प्रदत्त तमाम भौतिक सुविधाओं के बीच स्त्रियां अपमानित, तिरस्कृत, अतृप्त और संतप्त होकर जीने के लिए अभिशप्त हैं। 'नमक' की पत्नी एक कंपनी की नाममात्र की डायरेक्टर है, पति द्वारा तिरस्कृत होते रहना उसकी नियति है 'रहोगी तुम वही' पुरुष के अहंकारी, आततायी और दोहरे चरित्र को बहुत सलीके से अनावृत्त करती है। पत्नी बाल कटवा ले या न कटवाए, किताबें पढ़े या न पढ़े, हर स्थिति में पति को धिक्कारने का अधिकार मिला हुआ है। पत्नी का आर्थिक स्वावलंबन भी उसकी हैसियत में सुधार नहीं लाता। समाज-सेवा के लिए भी कम ताने और उलाहने नहीं सुनने पड़ते। पूरी कहानी में पत्नी मौन है, जबकि 'सत्ता-संवाद' की वाचाल पत्नी उसकी पूरक जान पड़ती है। वह पति के निठल्लेपन और स्वैराचार को बर्दाश्त नहीं करती है। इस कहानी का पति लेखक है, जो सच लिखने का दंभ तो करता है, लेकिन उसमें सच सुनने का माद्दा नहीं है।

सुधा अरोड़ा की कहानियों में स्फीति नहीं है। उतनी ही घटनाएं, उतने ही चरित्र, उतने ही वाक्य, जिनसे लक्ष्य-सिद्धि हो जाए। 'सत्ता-संवाद' में आया एक वाक्य बहुत अर्थपूर्ण है—'वैसे ट्यूबलाइट ठीक हो जाए तो कौन-सा अंधेरा दूर होने वाला है'। यहां अंधेरा पति के दिल-दिमाग के अज्ञान, जड़ता, पिछड़ेपन का व्यंजक है। 'नमक' में कई दशकों तक अपमानित होती रही पत्नी की प्रतिक्रिया बहुत ठंडी किंतु बेधक है। नमक न होने की शिकायत पर अब वह माफी नहीं मांगती और खौफ, तनाव और दहशत से मुक्त होने का प्रमाण देती है, यह कहते हुए कि नमक लेना हो तो आपके सामने पड़ा है। 'दहलीज पर संवाद' में भुक्तभोगी केवल स्त्री नहीं है, उसका वृद्ध पति भी है। वे नई पीढ़ी की उपेक्षा के शिकार हैं। पति अपनी उपेक्षा पर मेजर लाल का हवाला देता है कि वे अपनों द्वारा पीछे छोड़ दिए गए हैं : 'जिस तरह पिछली लड़ाई में सिपाही जख्मियों को साथ ढोने से तंग आकर पीछे छोड़ जाते थे, उसी तरह'। 'पीले पत्ते' में संकेत स्पष्ट है कि मंदा दी के हिस्से में सिर्फ पतझर और सूखे पत्ते ही आए हैं। इसी कहानी में 'एंटीक का हिस्सा लग रही थीं'—वाक्यांश मंदा दी के जीवन में पसरे पथराए मौन और उनकी जड़ होती जाने वाली संवेदनाओं की अभिव्यक्ति में सक्षम है। 'डेजर्ट फोबिया'...' में 'रेगिस्तान' और 'समुद्र' दो प्रतीक भर नहीं हैं, इनके माध्यम से दमित संवेदनशीलता के पुनर्जन्म का संकेत असाधारण है। दूर तक फैले खुश्क रेगिस्तान का अचानक समुद्र बनकर आंखों से बह निकलना कोई मामूली बात नहीं है! कई कहानियां सिर्फ कुछ वाक्यों की सहायता से 'एकालाप' में रचित हैं और स्त्री की यातना, तकलीफ, जिजीविषा और प्रतिवाद-चेतना को उभारते हुए कहानीकार के भाषाधिकार और कथन-लाघव को प्रमाणित करती हैं।

एक औरत : तीन बटा चार/सुधा अरोड़ा/बोधि प्रकाशन, एफ-77, सेक्टर 9, रोड नं. 11, करतारपुरा इंडस्ट्रियल एरिया, बाईस गोदाम, जयपुर-302006/ मूल्य : `

डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़ (उ.प्र.)

यथार्थ पर आदर्श की चाशनी

उर्मिला शुक्ल

यह कहा जाता रहा है कि आदर्श का युग बीत गया है, जीवन-मूल्य लुप्त हो गए हैं, इसीलिए आज साहित्य में भी यथार्थ का ही बोलबाला है। अधिकांश लेखक स्वीकार चुके हैं कि अब प्रेमचंदयुगीन कहानियों का जमाना नहीं रहा, मगर अब भी कुछ लेखक ऐसे हैं, जिनका जीवन-मूल्यों में विश्वास है और यही विश्वास उनकी रचनाओं में झलक मारता है। उनकी रचनाएं न तो यथार्थ से आंखें मूंदती हैं और न ही आदर्श का दामन छोड़ती हैं। वे इन्सान में काले पक्ष के साथ-साथ एक शुभ पक्ष भी देखती हैं। ऐसी ही कहानियों का संग्रह है—'तीसरा आदमी'।

हरदर्शन सहगल के इस ताजा संग्रह 'तीसरी कहानी' की कहानियां इन्सान के अच्छे और बुरे दोनों पक्षों को प्रकाशित करके अंततः इन्सानी मूल्यों की पक्षधर हो जाती हैं। इस संग्रह में उन्नीस कहानियां संकलित हैं। ये कहानियां आज के मशीनी युग की विसंगतियों के साथ ही आज के सामाजिक और राजनैतिक परिवेश को उजागर करती हैं। ये विद्रूपताओं और विसंगतियों की डोर थामकर आगे तो बढ़ती हैं, मगर अंत में उसे एक झटके से छोड़कर आदर्श का दामन भी थाम लेती हैं।

इन कहानियों की वस्तु एक ओर परंपरागत विषयों—जैसे समाज, प्रेम, परिवार, स्त्री-पुरुष संबंध, उसका बदलता स्वरूप, समाज और राजनीति में व्याप्त गुंडागर्दी और उसकी दहशत के साथ-साथ कुछ नए विषय—जैसे नक्सलवाद के नाम पर रचे गए राजनैतिक प्रपंचों को भी आधार बनाती हैं।

'झूठा कहीं का' और 'शरीके जुर्म' कहानियां दांपत्य प्रेम और विश्वास की कहानियां हैं, तो 'दर्रे-दरार', 'विश्वासघात' की कहानी 'थपेड़े' विश्वास के टूटने और बिखरने को अपना आधार बनाती हैं। इन कहानियों में पुरुष का पारंपरिक रूप और उसकी एकतरफा वफादारी की चाह उभरती है। समाज की स्थितियों के अनुरूप यहां भी अपेक्षाएं एकपक्षीय ही हैं, इसीलिए परिणाम भी वही है, यानी औरत का सामाजिक और पारिवारिक बहिष्कार, संबंधों की टूटन, बिखरन और औरत का वही पुराना दबा-दबा-सा आक्रोश। 'दीवार का अहसास' इसी परंपरागत सोच की नई कहानी है, जिसमें पाश्चात्य देशों से आए 'लिव इन' को आधार बनाया गया है, किंतु यहां भी पुरुष मानसिकता वही है। 'लिव इन' में रहते हुए भी नायक फूलन से यौन शुचिता की उम्मीद ही नहीं करता, बल्कि शक के कारण उससे संबंध भी तोड़ लेता है, क्योंकि उसकी नजरों में फूलन अब अपवित्र थी, ''मुझे तो बस फूलन चाहिए थी। बिल्कुल साफ-सुथरी। उसी रंग-रूप ढंग में मेरी विचारधारा को पुष्ट करती हुई। हिन्दुस्तान में भी स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर बतौर खुद एक मिसाल मुझे गहरा आघात लगा था। वह फिसल गई है। वह अब भी विवाह बंधन में बंधना चाहती थी। किसी दूसरे के पाप के कारण मैं अपना लक्ष्य क्योंकर छोड़ दूं।'' —पृष्ठ 83

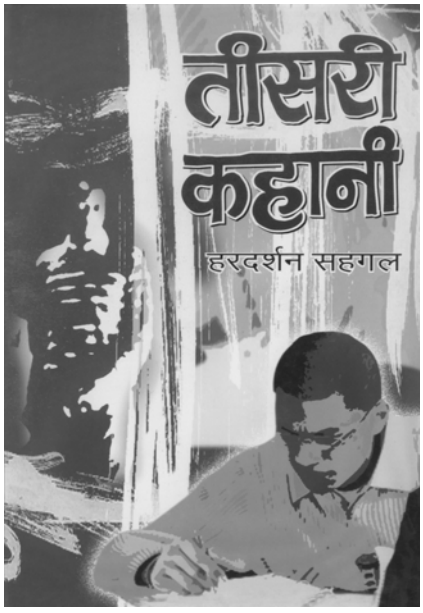

यह है पुरुषों का नजरिया, जो 'लिव इन' के बहाने अपने कर्तव्यों से मुक्ति पाना चाहता है, मगर अधिकार वही चाहिए, पवित्रता और यौन शुचिता भी।

हमारे परिवेश में व्याप्त गुंडागर्दी की दहशत को बयान करती कहानी 'ठसक' मध्यवर्ग की कायरता और दब्बूपन को भी रेखांकित करती है, जिसके चलते पीड़ित व्यक्ति नितांत अकेला होता है और असामाजिक तत्त्वों की जीत होती है। कहानी इसी दहशत और दब्बूपन को पूरी शिद्दत से प्रस्तुत करती है, किंतु यहां भी अंत आदर्श की भेंट चढ़ गया है। ऐसी ही एक कहानी और है 'क्लोन'। यह कहानी भी असामाजिक तत्त्वों की दहशत और आतंक को लेकर चलती है। यह कहानी, कहानीकार के आदर्शवादी खांचे को तोड़ती नजर आती है। वर्तमान व्यवस्था में आतंक फैलाने वाले कितने आजाद और सशक्त हैं और प्रतिरोधी कितने बाधित और अशक्त। इस कहानी में इसे देखा जा सकता है। कहानी पांच दोस्तों की है, जो मिलकर गुंडागर्दी और दहशत को समाप्त करना चाहते हैं, इसीलिए वे एक गुंडे को मारकर सोचते हैं कि उन्होंने अपने कायर और भीरू समाज को एक दिशा दी है, उन्होंने आतंक को खत्म करने की पहल की है, किंतु परिणाम फिर वही दहशत और आतंक की जीत। उन्हें अपना साथ देने वाला कोई नजर नहीं आता, यहां तक कि उन 'पांच दोस्तों' में भी नायक अपने आपको नितांत अकेला पाता है। उसके सभी साथी उसका साथ छोड़ जाते हैं, वह अकेला हो जाता है। उसे महसूस होता है कि जैसे उस गुंडे पैराकाइन के अनेक 'क्लोन' उभर आए हैं और वह अकेला है, उसके साथ कोई भी नहीं है। उसे लगता है कि रात को उन्होंने जिस पैराकाइन

को मारा था, वह मरा नहीं, बल्कि एक से अनेक होकर रक्तबीज की तरह चारों ओर फैल गया है।

यह दहशत और आतंक सिर्फ आमजन तक ही सीमित नहीं है। यह हमारे रक्षक कहे जाने वाले पुलिस कर्मियों में भी व्याप्त है, बस इसका स्वरूप कुछ बदला हुआ है। यहां दहशत राजनीति की है, जिसके चलते दहशतगर्द सुरक्षित बचे रहते हैं। इस राजनीति के चलते कब किसको गिरफ्तार करना है, किसे छोड़ना है और कब किस हत्या को एन्काउंटर करार देना है, यह सब ऊपरी स्तर पर तय किया जाता है। यहां ईमानदारी या कर्तव्य पालन की कोई अहमियत नहीं है। 'जाल' कहानी ऐसे ही ईमानदार पुलिसकर्मी की कहानी है, जिसे विभागीय राजनीति के चलते दहशत और जिल्लत का सामना करना पड़ता है। यह कहानी आतंकवादियों के राजनैतिक और ऊपरी रसूखों का भी पर्दाफाश करती है। जिस आतंकवादी को छुड़ाने के लिए रोशन रवानी को दहशत और जिल्लत झेलनी पड़ती है, वह जेल से बहुत आसानी से निकल भागता है।

''जेल में भयंकर उपद्रव हुआ, पुरानी दुश्मनी वाले दो गुट भिड़े। नियंत्रण में लाने के लिए पुलिस को गोली चलानी पड़ी। एक कैदी मारा गया। एक सिपाही सहित दस लोग घायल हो गए। गोलीबारी के दौरान कई कैदी भाग छूटे, जिनमें कुछ आतंकवादी भी थे।'' (पृ. 115)

पुलिस आम जनता की सुरक्षा के लिए होती है, किंतु उसका वर्तमान ढांचा कुछ इस तरह है कि वह आम लोगों के लिए दहशत का पर्याय बन चुकी है। उसका काम लोगों को दहशत से मुक्ति दिलाना न होकर दहशत फैलाना ही हो गया है। पुलिसकर्मियों को किसी की सच्चाई पर कतई विश्वास ही नहीं होता। लगता है वहां से मानवता, ईमान और विश्वास तिरोहित हो चुके हैं। ऐसे वातावरण में अगर कोई पुलिसकर्मी अपनी अंतरात्मा की आवाज सुनना भी चाहता है, तो उसकी आवाज अनसुनी ही नहीं की जाती, बल्कि दबा दी जाती है।

'कुछ गैर हमशक्ल' कहानी में कॉसू प्रेम को ऐसी ही स्थितियों का सामना करना पड़ता है। थाना प्रभारी रेशमजी उसकी बात को नकारते हैं, जो उसे सर्वथा अनुचित लगती है। पारस, कॉसू प्रेम से कुछ पुराना है। उसे भी यही सब सहना पड़ा है, वह कहता है—

''यही कि सिपाही को पत्थर दिल होना चाहिए, यानी जानवर की तरह खूंखार। अनाप-शनाप बोलकर अगले का मॉरल डाउन कर दे। बेशक कसूरवार हो, न हो। सोचो, इससे हमारा खुद का मॉरल नहीं गिरता।'' (पृ. 100)

वर्तमान समय में देश अनेक समस्याओं से जूझ रहा है, इनमें से एक है नक्सलवाद। नक्सलाद की जड़ें तो वही बरसों पुरानी व्यवस्था में व्याप्त असमानता, भेदभाव, गरीबी और बेकारी में हैं। सदियों से पीड़ित बेरोजगार युवा हथियार उठाकर सामाजिक और आर्थिक असमानता के अन्याय को दूर करना चाहते हैं। चूंकि सामाजिक न्याय इनका उद्देश्य है, इसलिए इन्हें आम जनता का संरक्षण प्राप्त होता है। समाज में दबे-कुचले लोगों की मदद करना इस संगठन का प्रमुख उद्देश्य रहा है। इक्कीसवीं सदी के इस भारत में नक्सलवाद उन्हीं क्षेत्रों में उभरा है, जहां बुनियादी सुविधाएं भी नहीं हैं। घने जंगलों के बीच रहने वाली जनजातियां जब अपने अधिकारों से बेदखल की जाने लगी हैं, जंगल ठेकेदारों के हवाले कर दिए गए और बाहरी लोगों की घुसपैठ जब उन्हें त्रस्त करने लगी, तब उन्हें लगा कि हथियार उठा लेने के अलावा उनके पास और कोई दूसरा उपाय है ही नहीं। ऐसी ही कहानी है—'कुछ इलाका और भी' जहां पंचायती राज के नाम पर शोषण होता आ रहा था। सारे गांव पर तथाकथित पंचों का एकछत्र राज्य था। वे निर्बल और मजबूर लोगों पर अत्याचार करना अपना अधिकार समझते थे। पढ़े-लिखे और भविष्य निर्माता कहे जाने वाले शिक्षकों का भविष्य भी इनके हाथों में था। यह कहानी अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध को उजागर करती है, ''वही प्रधान, वही मुखिया सरपंच। सब कुछ वही। एक छत्र शासक। वे हँसे तो सब हँसे। वे जो कहें, वही जायज। हां हां, जी हजूर।'' पृ. 147

ऐसे में कुछ युवा संगठित होकर उनका विरोध करते हैं। वे गांव वालों को ही नहीं, सरकारी कर्मचारियों को भी सामंती परिवेश से मुक्त होने की बात करते हैं—वे आम जनों के हितैषी और सामंती परिवेश के खिलाफ हैं—

''इनसे, अरे इनसे डरने की जरूरत नहीं। ये लोग खूब पढ़े-लिखे हैं। दुनिया की ऊंच-नीच समझते हैं, पर करें क्या? रोजी-रोटी की तलाश में हैं। गांव वालों से कहते हैं, मिलकर रहो, किसी की धौंस मत सहो। इन्हें अपने खेतों पर कब्जा मत करने दो। किसी एक की बहू-बेटियों पर अत्याचार होता है तो मिलकर सामना करो। इन हरामियों को ज्यादा सूद मत दो। यहां के लोग तो आढ़तियों, पैसे वालों से आंखें मिलाने की जुर्रत नहीं रखते, जबकि ये सीधे आंखों में अपनी दहकती आंखें डाल देते हैं।'' (पृ. 150)

इस व्यवस्था में सरकारी कर्मचारियों तक का शोषण होता है। महिलाओं की स्थिति तो और भी दयनीय है, वे दोहरे शोषण का शिकार होती हैं, मगर नक्सली कहे जाने वाले ये लोग उन्हें भयमुक्त करते हैं—

''चंदू, घघरू, मोहिना के बहुत सारे साथी हैं। वे जंगली या अपने अधीन कस्बों में बसते हैं। उनके पास थोड़ा खाना है। असलाह हैं। हथियार हैं। इस चीज को यहां के चौधरी जानते हैं। इन पर सीधे हाथ डालते हुए सहमते हैं। दोनों तरफ से एक अघोषित युद्ध चल रहा है।'' (पृष्ठ 150)

फितरत, 'वही लोग' में नक्सली आंदोलन और उसकी हकीकत के चित्रण के साथ-ही-साथ देश में व्याप्त सफेदपोशों की लूट का भी चित्रण है, जो इनसे अधिक खतरनाक है। आजादी के बाद से आज तक लगातार देश इनकी लूट का ही शिकार होता रहा है। सफेदपोश कहे जाने वाले ये लोग देश के लिए कितने खतरनाक हैं, ये कहानी इसका कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करती है। वर्तमान राजनीति और राजनीतिज्ञों को दर्पण दिखाता यह कहानी-संग्रह महत्त्वपूर्ण कहानियों में एक है।

कुल मिलाकर इस संग्रह की कहानियां अपने परिवेश से मुठभेड़ तो करती हैं, मगर कहानीकार की आदर्शवादी सोच इन्हें एक अलग रंग दे जाती है। आदर्श की अतिशयता कहीं-कहीं कहानी को अविश्सनीय अंत तक पहुंचा देती है, संग्रह पठनीय और संग्रहणीय बन पड़ा है।

तीसरी कहानी/हरदर्शन सहगल/ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली/मूल्य : ` 200

ए-21, स्टील सिटी, अवंति विहार, रायपुर (छ.ग.), मो. 9893294248

कल की कविता और आज का समय

मनोज मोहन

वाल्ट व्हिटमैन (1819-1892) संयुक्त राज्य अमेरिका की कविता की दुनिया के आदि कवि हैं। विश्व कविता की दुनिया में मुक्तछन्द के प्रथम प्रयोगकर्ता के रूप में वे जाने जाते हैं। और वे अपने समय में यूरोपीय परम्परा के वर्चस्व को अमेरिका की अपनी खांटी पहचान से ध्वस्त किया। उनके समय में अमेरिका में श्वेत और अश्वेतों के बीच एक गहरी खाई थी और अश्वेतों को विशेषाधिकार प्राप्त था। जिसे समाप्त करने के लिए उन्होंने अपने को एक प्रतिपक्ष की भूमिका में ही रखा। कवि दिनेश कुमार शुक्ल का कहना सही है कि ''वाल्ट व्हिटमैन व्यक्ति की गरिमा और स्वतंत्रता के जितने प्रखर समर्थक थे, वे समष्टि के, बहुलता के और समाज की अन्तर्निहित एकता और समाजवाद के भी उतने मुखर प्रवक्ता थे।'' उनका पहला संग्रह 'लिव्ज़ ऑफ ग्रास' (घास की पत्तियाँ) है जिसमें वह लगातार परिवर्तन-परिवर्धन करते रहे।

हॉफमैन ऑन मुंडारी पोएट्री नामक प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक दिनेश्वर प्रसाद ने वाल्ट व्हिटमैन के लिव्ज ऑफ़ ग्रास के चुनिन्दा कविताओं का अनुवाद है 'मैं इस पृथ्वी को कभी नहीं भुलूंगा' नाम से प्रस्तुत किया, लेकिन वाल्ट व्हिटमैन ने अपने पहले संग्रह का नाम 'घास की पत्तियां' रखा और तमाम उम्र जो भी कविता रचते-सिरजते रहे वे कभी घास की पत्तियां ही होती हैं जो समय के साथ बढ़ती रहती हैं। इस रूप में प्रस्तुत संग्रह का नाम भी घास की पत्तियां या 'घास की पत्तियाँ की चुनिन्दा कवितायें' ज्यादा माकूल होतीं। वाल्ट व्हिटमैन को लेकर भारत के हिन्दी समाज के बीच उत्साह का भाव नहीं रहा है। व्हिटमैन 19वीं शताब्दी में 'लिव्ज ऑफ ग्रास' की कवितायें लिख रहे थे और दिनेश्वर प्रसाद 21वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में झारखण्ड प्रदेश की राजधानी रांची में बैठे इसका अनुवाद कर रहे थे। झारखण्ड प्रदेश की स्थिति-परिस्थिति ने कहीं न कहीं उन्हें वाल्ट व्हिटमैन तक ले गयी। जहाँ व्हिटमैन के समय श्वेत-अश्वेत के बीच संघर्ष चल रहा था वहीं झारखण्ड में आदिवासी अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ रहे हैं। कविता एक स्वतंत्र राजनैतिक कर्म है जो मनुष्य की गरिमा, न्याय और सच के लिए निरन्तर सक्रिय होता है और जो किसी भी स्थिति में अपने इन लक्ष्यों से डिगना नहीं चाहती जो आज के समय में राजनीति करती रहती है।

अनुवादक के अनुसार ''भारत के पाठकों के लिए वाल्ट व्हिटमैन को पढ़ने और पढ़ते रहने का एक कारण और है। भारतीय जीवन-दर्शन से उनका जीवन-दर्शन इतना मिलता-जुलता है कि वह कई समीक्षकों को भारतीय ऋषि प्रतीत होते हैं। उनके शूद्र, आत्मा, माया आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है बल्कि ऐसी मनोदशाओं का भी वर्णन हुआ है, जो समाधि की दशायें हैं। उनकी एक कविता का नाम 'भारत की यात्रा है जो अधिकतर समीक्षकों की दृष्टि में उनकी सर्वश्रेष्ठ कविता है।'' जबकि उन्हें मालूम होना चाहिए वाल्ट व्हिटमैन भारत यात्रा पर कभी नहीं आये।

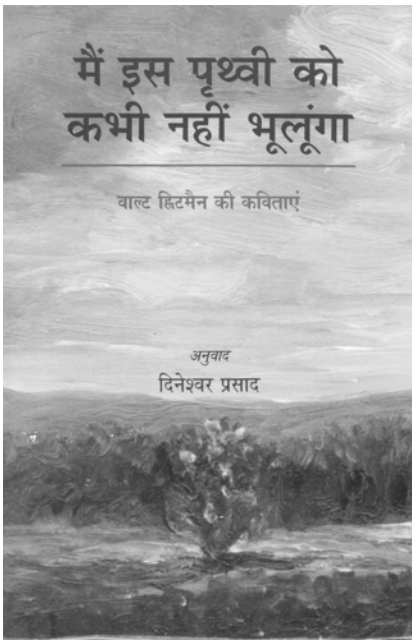

इस पुस्तक में अनूदित 'सार्वभौमता का गीत' और 'ओ मैं! ओ जीवन!' की कुछ पक्तियां झारखण्ड और इस प्रदेश के लोगों की सम्वेदना के काफी करीब है।

(1) हमारी विस्तृत पृथ्वी में/ अपरिमित स्थूलता और धातुमल के बीच/ उनके केन्द्रीय हृदय में बन्द और सुरक्षित/ पूर्णता का बीज छिपा है।

(2) कि तुम यहां हो कि जीवन अब भी चल रहा है और/ अस्मिता/ कि प्रभावशाली अभिनय जारी है, और तुम उसमें एक कविता का योग दे सकते हो। विवेकानन्द से लेकर रवीन्द्रनाथ टैगोर तक व्हिटमैन के कविता के मुरीद रहे हैं। विवेकानन्द को उनकी प्रतिनिधि लम्बी कविता 'सांग ऑफ माइसेल्फ' काफी प्रिय थी। उसके कुछ अंश का अनुवाद यहां प्रस्तुत है—'आकाश के नक्षत्रो! मैं वहां तुमको धीमे-धीमे/बोलते सुनता हूं/ ओ सूर्यो! ओ कब्रों की घास/ —ओ सतत स्थान परिवर्तनों और उन्नयनों!/ यदि तुम कुछ नहीं बोलोगे, तो मैं कैसे कुछ बोल पाऊँगा। उनकी प्रसिद्ध कविता 'अमेरिका' का अनुवाद इस तरह किया गया है—'एक जैसी पुत्रियों, एक जैसे पुत्रों का केन्द्र,/ सब, सब एक-समान प्रिय, वयस्क, अवयस्क, युवा या वृद्ध,/ सफल, परिपूर्ण, सुन्दर, सहिष्णु, सक्षम, सम्पन्न/पृथ्वी के साथ, स्वातंत्र्य के, विधि और प्रेम के साथ, स्थिर स्थायी, स्वस्थ, समुन्नत, विराजमान जननी,/ प्रतापी काल के वक्ष पर आसीन।' वाल्ट व्हिटमैन के इस अमेरिका और आज के अमेरिका के फर्क को यहां साफ-साफ देखा और समझा जा सकता है।

अनुवादक के अनुसार 'इस पुस्तक में विराम, अर्धविराम और पूर्णविराम सम्बन्धी

नियमों का पालन अपने ढंग से हुआ है। पंक्तियों के विस्तार का निर्धारण भावों और विचारों की इकाई के विस्तार के आधार पर हुआ है। प्रचलित अर्थबोध की पद्धति से भिन्न पद्धति द्वारा व्हिटमैन का अर्थबोध सम्भव है।' उन्होंने इन कविताओं का जो अनुवाद किया है विशाल हिन्दी प्रेमियों को एक कवि की विशालता से परिचय कराने में पूरी तरह सक्षम है। इसके बावजूद हिन्दी में अनुवाद करते समय अगर तत्सम प्रधान भाषा की जगह तद्भव और देशज बहुल जन भाषा को अनुवादक ने तरजीह दी होती तो बेहतर होता और लोगों की समझ के ज्यादा अनुकूल होता। तत्सम शब्दों के कारण कई जगह अनुवाद बोझिल सा हो गया है। लेकिन किसी भी अन्य भाषा में अनुवाद करने के बाद मूल 'पाठ' को कमोबेश रूपान्तरित हो जाना निश्चित-सा है। लेकिन दिनेश्वर प्रसाद के अनुवाद में पाठकों को एक नया और भिन्न स्वाद तथा अपरिचित और अलभ्य तत्वों का अहसास होगा। वाल्ट व्हिटमैन की कविताएं अपने तत्कालीन समय के लिए ही नहीं बल्कि आज के मनुष्य के लिए भी धरोहर है जो समानता के अधिकार मानसिक खुलेपन और एक सुन्दर दुनिया की उम्मीद करते हैं। इस रूप में वाल्ट व्हिटमैन की कविता साधारण लोगों के लिए ही है। पुस्तक को प्रकाशक ने लगाव के साथ छापा है। अनुवादक और प्रकाशक को हिन्दी प्रेमियों को एक अच्छी पुस्तक देने के लिए बधाई।

और अन्त में—दिल्ली में बैठे हिन्दी के कई स्वानामधन्य आलोचकों को देखकर लगता है, दिनेश्वर प्रसाद इनसे बहुत आगे, बहुत ऊपर थे। वे बिहार-झारखंड के उस परम्परा के अंतिम आलोचक व्यक्तित्व ठहरे जो हिन्दी आलोचक के तमाम बड़े आलोचकों से कहीं कम न थे, हमसे विदा हुए, उनको इस समीक्षा के बहाने एक विनम्र श्रद्धांजलि।

मैं इस पृथ्वी को कभी नहीं भूलूंगा/अनुवाद : दिनेश्वर प्रसाद/मूल लेखक : वाल्ट व्हिटमैन/ अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, 4697/3, 21-ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002/ मूल्य : ` 450.00

एल.पी.-61/बी, पीतमपुरा, दिल्ली-110034, मो. 09868664457

कविता

देर से आईं रागयुक्त रसमयी कविताएं

योगेश प्रताप शेखर

समकालीन हिंदी कविता पर गाहे-बगाहे एकरस होने का आरोप लगता रहता है। कुछ लोगों को इस तरह के आरोपों में सच्चाई भी नजर आती है, पर हिंदी कविता की दुनिया शुरू से ही इतनी विविध रही है कि वहां एकरसता कभी संभव नहीं हुई। समकालीन कविता में भी बीच-बीच में ऐसे संग्रह प्रकाशित होते रहते हैं, जो शालीनतापूर्वक अपने को उपस्थित कर कविता की दुनिया को बहुरंगी बनाते हैं। ऐसा ही एक संग्रह अभी आया है—'लहू में फंसे शब्द'। कवि हैं—श्याम कश्यप।

श्याम कश्यप का करीब दो दशक बाद प्रकाशित यह दूसरा कविता-संग्रह है। उनका पहला संग्रह 'गेरू से लिखा हुआ नाम' शीर्षक से छपा था।

'लहू में फंसे शब्द' की संपूर्ण कविताएं पढ़ जाने के बाद पाठक की पहली प्रतिक्रिया आश्चर्यमिश्रित आनंद की होती है। कवि की प्रकृति-मात्र के प्रति सघन संसक्ति बरबस हमारा ध्यान खींच लेती है। यहां प्रकृति का विविधवर्णी रूप पूरे परिदृश्य के साथ उपस्थित है। उदाहरण के लिए सिंधु नदी और शिवालिक की घाटियों से संबंधित कविताओं में प्राचीन सांस्कृतिक वातावरण है तो यमुनापर लिखी कविता में आज का सच। समकालीन हिंदी कविता पर यह भी आरोप है कि वह लगातार प्रकृति से अपने को दूर करती जा रही है। जो लोग ऐसा कहते या सोचते हैं, दरअसल वे हिंदी में कविता और प्रकृति के जटिल संबंधों पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं करते। नई कविता के दौर तक उन्हें कविता में प्रकृति सीधे-सीधे दिखाई देती है, पर बाद के काव्यात्मक विकास में प्रकृति की उपस्थिति वैसी न होने के कारण उन्हें सारी कविता प्रकृति-विहीन नजर आती है।

कविता और प्रकृति के संबंध के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कवि प्रकृति को किस रूप में ग्रहण करता है? ऐसा इसलिए भी कि प्रकृति मूर्त होते हुए भी एक सीमा के बाद अमूर्त स्थिति में पहुंच जाती है। श्याम कश्यप की प्रकृति से संबंधित कविताओं को पढ़ने के बाद यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आधुनिक हिंदी कविता में अज्ञेय के बाद प्रकृति को गंभीरता से ग्रहण करने वाले कवि अत्यंत अल्प हैं और श्याम कश्यप उनमें अन्यतम हैं। पाठकों को इस कथन में अतिरंजना लग सकती है, पर आगे दिए जा रहे अंशों से यह बात प्रमाणित हो जाएगी। एक कविता का शीर्षक है 'सूर्योदय हेमंती'। कविता छोटी है, इसलिए उसे यहां पूरा उद्धृत किया जा रहा है—''हवन कुंड से फूटता है/उमग कर

फूल आग का/लपकती रक्ताभ-स्वर्णिम/खिली पंखुड़ियों के साथ/ज्योति-स्फुलिंगों-से/झरते हैं पराग-कण/गुनगुनी चिनगारियों को लोक कर/हम अपने ठिठुरते हाथ सेंकते हैं!' इसमें 'फूल आग का' के साथ 'गुनगुनी चिनगारियों को लोक कर' के सौंदर्य को दूना होते देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'बारिश-बदली' कविता का अंश है—'पानी के बोझ से झुक आई थी/सलेटी सांवली सलोनी/उम्मीद-वर बदली—/अलस सुस्ता रही थी थकी-सी/बरसने से पेश्तर/हरी-हरी पहाड़ियों के कांधों से टिकी/'उम्मीद-वर बदली' का सौंदर्य भी विलक्षण है। एक और कविता 'सागर संन्यासी' का अंश—'पिघले सोने की चमकती/लहरों में बदल गया—/गैरिक-वसन संन्यासी/पांडिचेरी-तट का सिंदूरी सागर'। इन सब उद्धरणों में कवि की अद्‌भुत कल्पना-शक्ति देखी जा सकती है। यहां कहना सिर्फ यही है कि ऐसी कल्पना-शक्ति विषय से सघन लगाव के बिना संभव नहीं।

ऊपर उद्‌धृत अंशों से ऐसा लग सकता है कि श्याम कश्यप की कविताओं में प्रकृति के प्रति रोमांटिक जुड़ाव सक्रिय है। वस्तुतः ऐसा है नहीं। वे अपनी बौद्धिकता का साथ कभी नहीं छोड़ते। प्रस्तुत संग्रह में कई ऐसी कविताएं हैं, जो प्रकृति की कोमलता से आरंभ होकर समय की वर्तमान भयावहता में समाप्त होते हुए हमारे भीतर लगातार प्रश्न खड़ा करती रहती हैं। 'सुनामी के बाद', 'नग़ीन के हाउस-बोट में', 'मुगल बाग़ान में', 'कश्मीर के सात रंग' आदि ऐसी ही कविताएं हैं। 'नग़ीन के हाउस-बोट में' कविता का क्रमशः आरंभिक और अंतिम हिस्सा यहां दिया जा रहा है, जिससे बात स्पष्ट हो जाएगी, 'सामने पहाड़ों के घेरे से घिरी/चांदी की जड़ाऊ अंगूठी में जड़े/नीले नीलम के नगीने-सी नग़ीन/डल से गलबहियां डाले सगी उसकी छोटी बहन!/... डूबते सूरज की लाली से टपकता लहू/बादलों की सुरमई चादरें भिगोता/सदियों के रिश्तों-मुहब्बतों को तोड़ता/घिरा आ रहा तूफां नफरतों का पल-छिन पल-छिन।'

प्रस्तुत संग्रह की कविताओं का दूसरा प्रमुख विषय प्रेम है। प्रेम के बारे में हिंदी के मध्यकालीन कवि बोधा का कहना था कि यह तलवार की धार पर दौड़ने के समान है। बोधा ने यह बात कही तो प्रेम के प्रसंग में थी, पर यह प्रेम-कविता की रचना-प्रक्रिया पर भी लागू होती है। ऐसा इसलिए कि प्रेम-कविता में उत्कट और उद्दाम अनुभूतियों के साथ गाढ़ ऐंद्रियता का सम्मिश्रण होता है। इसमें जरा-सी असावधानी भी कविता को उसके उच्च शिखर से गिरा देती है। प्रसन्नता की बात है कि श्याम कश्यप की प्रेम-संबंधी कविताओं में यह ऊंचाई सदा विद्यमान रहती है। उद्दाम अनुभूतियों और गाढ़ ऐंद्रियता का 'सम्मिश्रण 'प्रणय-राग'-जैसी कविताओं में सीधे-सीधे भास्वरित होता है तो 'बिना नाम वाली लड़की' जैसी कविताओं में अंतःसलिला रूप में। यहां भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि श्याम कश्यप प्रेम के भी अपने ढंग के अनूठे कवि हैं।

समीक्ष्य संग्रह में कुछ कविताएं सीधे-सीधे समकालीन यथार्थ से संबंधित हैं। ऐसी ही कविताएं इस संग्रह की कमजोर कविताएं हैं। ऐसा इसलिए कि इस तरह की कविताएं एक सीमा के बाद सपाट हो गई लगती हैं। उदाहरण के लिए संग्रह की आखिरी कविता 'हमारा घर' यदि 'अभावों के/बीच भी/भावों की लौ छिप रही है!' पंक्तियों पर समाप्त हो जाती तो काफी प्रभावोत्पादक होती, परंतु इसका विस्तार अलगे दो पन्नों तक गया है, जिसके कारण कविता का स्तर थोड़ा नीचे आया मालूम होता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'लहू में फंसे शब्द' की कविताएं हिंदी कविता के पाठकों को अपने आत्मीयतापूर्ण वातावरण और विषयों से तीव्र जुड़ाव के कारण न केवल आकर्षित करती हैं, बल्कि उन्हें एक नया काव्यास्वाद भी प्रदान करती हैं। वे प्रकृति और प्रेम की नई दुनिया में ले जाती हैं, अपने समय के यथार्थ को बिना भुलाए। अंत में यही कि—देर आए, दुरुस्त आए। स्वागतम् स्वागतम्।

लहू में फंसे शब्द/श्याम कश्यप/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 250

द्वारा रणविजय कुमार, नर्मदा-स्मृति, आजाद लेन, चौधरी टोला, पटना-800006 मो. 09631952649

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिंदा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अंतर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा, जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री—यथा संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा, जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केंद्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

कविता का आसमान

अर्चना त्रिपाठी

इस उत्तर आधुनिक समय में जब सब ओर निराशा और नकारात्मकता की अधिकता है, तब कविता हमें जीवन से जोड़कर जीने की समझ और ललक देती चलती है। कविता जीवन की स्रोतवाहिनी बनकर निरंतर गतिमान और प्रवहमान बनी रहती है। यह कविता ही है, जो मनुष्यता को बचाए हुए है और अपनी वैचारिकता और भाव प्रवणता की सामर्थ्य के साथ समाज से बहुत गहराई से जुड़ी है। सविता भार्गव का पहला कविता संग्रह 'किसका है आसमान' इसका अपवाद नहीं है।

सविता भार्गव की कविताएं वैयक्तिकता और सामाजिकता का अद्‌भुत संगम प्रस्तुत करती हैं। स्पर्श-एक, स्पर्श-दो और स्पर्श-तीन इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं। पहली कविता पिता और पुत्री पर है। कवयित्री को पिता का कोई स्पर्श याद नहीं है। सच है आज से तीस-चालीस साल पहले पिता अपने बच्चे को गोद में उठाने में झिझकता था। पिता का आतंक घर में कर्फ्यू जैसा लगा देता था। अपनी बेटी को पिता से लिपटते देख कवयित्री को अपने पिता याद आ जाते हैं, कविता इस प्रकार बढ़ती है— दरवाजे पर ही अपने पापा से लिपट जाती/अपनी बेटी को देखती हूं/और अपनी त्वचा में अपने पिता के स्पर्श/याद करने की कोशिश करती हूं/पर याद नहीं आता कोई भी स्पर्श पिता का। इसी तरह स्पर्श-दो कविता भी कथ्य के वैविध्य की दृष्टि से अद्‌भुत है, जहां घर की मेहतरानी को छूने का रोमांच है, ''रोज रोज रोटी को दूर से/उसके फैले आंचल पर फेंकते हुए/जाने कब एक जिद ने जनम लिया/कि एक दिन छूकर देखूंगी उसे/उस रंग-बिरंगी चूड़ियों वाले हाथ को/और एक दिन छू ही लिया उसे/देखी मैंने घूंघट में छिपी उसकी काजल लगी बड़ी-बड़ी आंखें/उसकी आंखों में डर की एक लहर उठी/लेकिन दूसरे ही पल जाने क्या सोचते हुए वह मुस्कुराई/मैंने किसी को नहीं बताया/पर किसी को नहीं छुआ रात होने तक।'' इसी तरह स्पर्श-तीन एक मां के अपने नवजात बच्चे की छुअन की कविता है, ''मेरी हथेलियों में अब भी थरथराता है/उसके गालों का पहला स्पर्श/मैंने छुआ था जैसे पहली बार/अपने से अलग अपने आपको।'' ये कविताएं कवि के सरोकार बताती हैं और बताती हैं कि स्त्री-पुरुष के रूमानी संबंधों से आगे निकलकर कविता समष्टि तक पहुंचती है, जहां-जहां पिता-पुत्री के संबंध हैं, समाज की ऊंच-नीच है और मां-बेटे के संबंधों की आंच और स्पर्शों की कोमलता है।

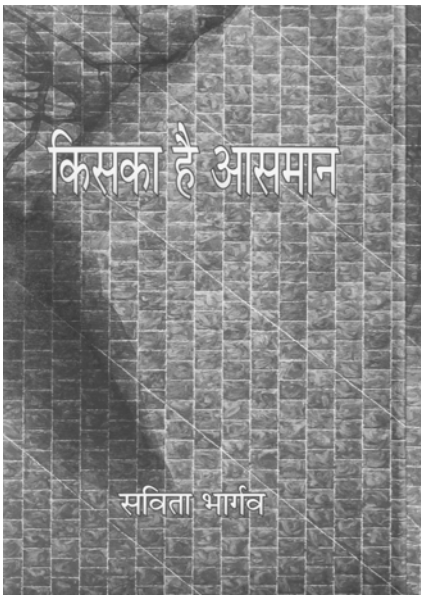

सच है हिंदी कविता औद्योगीकरण और बाजारीकरण के चमत्कारों से तंग आ चुकी है। कविता अपनी सामाजिक पक्षधरता को समझकर मनुष्यता के साथ खड़ी दिखाई देती है। ये कविताएं कवि की दृष्टि और सरोकारों को समझना आसान कर देती हैं। वे अपने समय की भयावह सच्चाइयों से भागती नहीं हैं, बल्कि उनसे अपने लिए उत्तर पाने की कोशिश करती हैं।

आज तमाम तथाकथित उपलब्धियों के बावजूद वे मानवीय रिश्ते गायब हैं, जो उपलब्धियों को अर्थ देते हैं। आज तो हम सब असाध्य पीड़ा भोगने को विवश हैं। खास तौर से स्त्री को घर के नाम पर क्या-क्या नहीं सहना पड़ता। घर और पति की सुरक्षा उससे क्या-क्या ले लेती है, यह बताती है कविता 'आखिर बीवी हूं तुम्हारी', जिसमें स्त्री ने बार-बार उन बातों के लिए माफी मांगी है, जो उससे अपेक्षित हैं और वह नहीं कर पाई जैसे पति के आने से पहले वह अपने काम से नहीं लौट पाई और पति के आने पर मुस्कुराते हुए चाय-नाश्ता नहीं पेश कर पाई। वह माफी मांगती है कि कमीज के दाग नहीं छुड़ा पाई, बिजली-टेलीफोन के बिल समय पर नहीं चुका पाई और अंत में कहती है, ''माफी तो मांगनी ही चाहिए मुझे/आखिर बीवी हूं तुम्हारी।'' प्रस्तुत कविता आज भी स्त्री की विवशता और पीड़ा को रेखांकित करती है।

इस घनघोर निराशा के बीच कवयित्री के पास आशा की समझ है। भले ही इतना घनघोर अंधेरा हो कि एक परछाई तक न दिखे, फिर भी यदि हमें बचना है तो एक सकारात्मक निरंतरता रहनी ही चाहिए। अहसासों की खूबसूरती और अनुभव जीवन

की थाती हैं और बच्चा जीवन का विश्वास और जीवन की शपथ है। कवयित्री की पहली कविता सृष्टि बहुत खूबसूरत कविता है, जिसमें वह कहती है, ''तुमने छुआ/मैं नदी हो बह गई प्यास के पहाड़ों तक/चूमा तुमने मुझे/मैं तपा आई धूप को/कानों में कुछ कहा तुमने/हवा बन मैं उड़ा लाई शहद के बादल/सहलाई तुमने जब मेरी देह/धरती हो अंखुआ गई मैं ओर-छोर/उतरे तुम मुझमें/आसमान की नीली आभा सी भर गई मुझमें/चांद मेरी हथेली पर और तारे मेरी आंखों में/मैं बदल गई एक दिन घोंसले में/एक दिन नन्हे-नन्हे चूजों ने पंख खोले/और मैं आसमान हो गई।''

अच्छी बात है कि कवयित्री सीमित अनुभवों की कवयित्री नहीं हैं और न ही किसी एकरसता का शिकार हैं। कविताओं में एक सहज खुलापन है, जिसे कविता की ताकत ही कहा जा सकता है। 'पैरासेलिंग' जैसी कविता धरती से आसमान तक के अनुभवों को बयान करती है। हिंदी कविता में पैरासेलिंग संभवतः पहली बार आई है। इसी तरह बेगम अख्तर कविता संवेदना के विविध स्तरों को बखानती है। बगिधा वाली चाची बिंबों और संवेदनाओं के नए स्तर खोलती है। घरों-मुहल्लों में ऐसी चाचियां पहले मिलती थीं, अब तो किसके पास समय है मुहल्ले की खबर रखने का। हम लोग तो अपने पड़ोसी को नहीं जानते।

उक्त कविताएं कथ्य की दृष्टि से जीवनोन्मुखी और समाजोन्मुखी कविताएं हैं। वे जीवन की सदाशयता में विश्वास रखती हैं। ये कविताएं स्त्री मन के स्पंदन को पकड़कर उन्हें आकार देती हैं। भाषा सहज और सरल है। कविताओं में प्रौढ़ता और तरलता एक साथ है और ये इन कविताओं की विशेषता है।

किसका है आसमान/सविता भार्गव/राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 200

4/359, आर.के. पुरम, नई दिल्ली-110022

भूमंडलीकरण और स्थानीयता के तनाव पर रची कविता

विजेंद्र नारायण सिंह

'बुरे समय में नींद' में कवि रामाज्ञा शशिधर की यात्रा सिमरियाघाट से सामने घाट (बनारस का एक घाट) यात्रा है। यह भौगोलिक यात्रा असल में कवि की वैचारिक यात्रा की प्रतीक है। चूंकि गंगा का नैसर्गिक प्रवाह पश्चिम से पूरब की तरफ है, इस कारण संग्रह में क्रम तो यही है, पर वैचारिक यात्रा का क्रम सिमरियाघाट से सामने घाट का है। यह यात्रा एक बदली दुनिया की मानसिक यात्रा है। यह गांव से विश्वग्राम तक की यात्रा की यातना की कविताएं हैं। एक बदली हुई दुनिया, जिसमें भूमंडलीकरण के कारण सब कुछ उलट-पुलट गया है। संसार उलटबांसी-सा दीखता है। विश्वग्राम में ये उजड़ गए। एक कविता है, 'पिता आए थे सपने में' :

''अब फसलों के साथ नहीं पकते गीत/गांव के मुहाने पर खड़े नीम का/कोई पड़ोसी नहीं/मछुआरे जाल नहीं बुनते/चांदनी की नायलॉन डोरियों से/चुप्पी नहीं तोड़ती/धनकुटनी की धम्मकधम।''

यह बदलाव, जो उत्तर औद्योगिक सभ्यता के कारण आया है और उससे जुड़ी है नई दुनिया की दहशत, जिसमें मासूमियत नष्ट हो जाती है :

''एक बिल्ली आती है/जो मुंडर पर सहमे/सारे कबूतरों को खा जाती है/एक पिशाच आता है/जो मेरे छप्पर पर/खोपड़ियां और अस्थियां खाता है/रात चलती है चांद की लाश कंधे पर उठाए।''

एक दुनिया से दूसरी दुनिया में संक्रमण और उससे उत्पन्न दहशत की प्रामाणिक अभिव्यंजना ये कविताएं हैं।

यह भूमंडलीकरण है, जिसने सब कुछ को बदल दिया है; भाषा का नहीं वरन् टमाटर, गोभी और भिंडी के भी स्वाद बदल गए हैं।

हिंदी ही क्यों/टमाटर गोभी भिंडी के भी/बदल रहे हैं रूपरंग स्वाद।

निसर्ग के आस्वाद में परिवर्तन बुनियादी बदलाव का संकेत है, लेकिन अर्थ में फर्क नहीं।

मैं रह गया ओल का ओल/न मिली नागरिकता का भूगोल।

'कुकुरमुत्ता' से काव्य-विषय में जो क्रांति आरंभ हुई, वह अब तक चली आ रही है। कविता में कोई भी क्रांति पूरी होने में लंबा समय लगता है। यह क्रांति, नाचीज की काव्यात्मकता की तलाश है। असल में स्वच्छंदतावाद के स्वभाव में ही साधारणतया का समावेश निहित है। यथार्थ है, सर्वहारा है। 'सूरन' कविता यही चीज है। ऐसा है कि ऐंद्रिक बोध की दिशा बदल गई है—

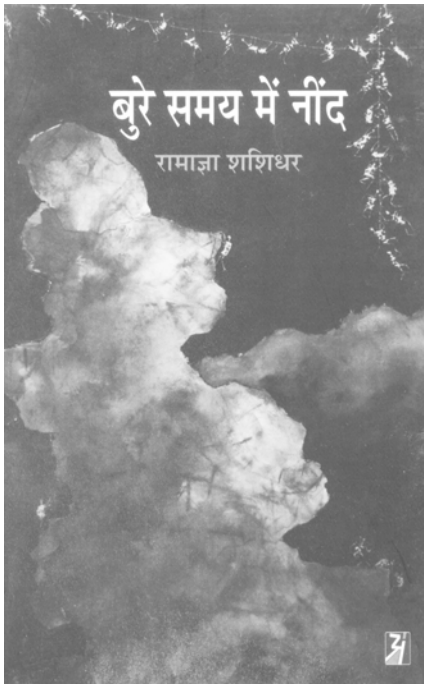

जीभ/केवल मैकडोनाल्ड में ही संतुष्ट हो सकती/पीठ देखने लायक होती है महानगर की औरतों की/पेट चांदीमार तिजोरियों का/उसके विचार में अमेरिका से आयात सपने और/स्विट्जरलैंड को निर्यात किए गए खाते/ज्यादा फायदेमंद होते हैं।

इसी भूमंडलीकरण के प्रसंग में 'विदर्भ' नामक कविता की मार्मिकता अभिव्यंजित होती है। विदर्भ जो श्मशान बन रहा है, वह मणिकर्णिका घाट के श्मशान को भी मात दे रहा है। देशीराज की कृषिनीति, जिसमें भूमंडलीकरण, बाजारवाद हावी हो गया—खेतीबाड़ी पूरी तरह बरबाद हो गई। अंग्रेजी उपनिवेशवाद ने उन्नीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशक में खेतों को जो श्मशान बना दिया था, उससे भयावह श्मशान देशी राज में बना है। 'खेत' कविता का 'विदर्भ' नामक कविता से सीधा संबंध है। अलग-अलग लिखी यह एक ही कविता है। फिर यही कविता है 'सेवाग्राम'। इसमें कविता है अंतिम पंक्ति—'अनगिन किसानों की अस्थि राखों पर खिले कपास के सफेद फूल', 'रेशम के कीड़े' में कवि कहता है—

> वह जो मूंगा तसर मलबरी से/एक साथ बुनता है/बनारसी साड़ियां/बुनने के बाद/भूख से मरता है।

कपड़े बुनने और खेती करने का संबंध भूख और कफन से है। रामाज्ञा शशिधर भूमंडलीकरण, बाजारवाद के युग में कविता के विषय को प्राथमिक बना देते हैं। यह एक क्रांति है। इस संग्रह की अधिकतम कविताओं का संबंध किसी-न-किसी रूप में भूख से है। यह भूख ही भूमंडलीकरण का सही प्रतिरोध है।

उत्तर आधुनिकता केवल एक समाज और संस्कृति नहीं है, पर इस कारण व्यक्ति के शील में भी बुनियादी परिवर्तन हो गया है। शशिधर लिखते हैं—

ऐसा अपना हाल/रोज बदलता हूं सीढ़ी-संबंध/नहीं परखता/दिल का क्या है चोट/विश्वास नहीं होता।

यह सीढ़ी-संबंध क्या है? जैसे सीढ़ी पर चढ़ते समय एक सीढ़ी छोड़, दूसरी सीढ़ी पर चढ़ते चले जाते हैं, वैसे ही काम निकल जाने पर एक रिश्ते को छोड़ दूसरे रिश्ते पर खिसक जाते हैं। यह उत्तर आधुनिक जीवनदर्शन की स्वार्थजीविता (careerism) है। उत्तर आधुनिक चीजों का इस्तेमाल कर फेंक देता है। use and throw इसका व्यापक ढंग है। रिश्ते भी वैसे ही हो जाते हैं। कोई रिश्ता स्थायी नहीं होता है, सभी क्षणजीवी होते हैं। काम निकला और रिश्ता बदल गया। यही सीढ़ी-संबंध है। रामाज्ञा राय सभ्यता के बुनियादी दोष को रेखांकित कर रहे हैं।

इस संग्रह में सिमरिया घाट खंड के अंतर्गत भूमंडलीकरण के प्रतिलोम में क्षेत्रीयता, स्थानीयता के दबाव में लिखी कविताएं हैं। रामाज्ञा राय 'शशिधर' की यात्रा सिमरिया घाट से सामने घाट तक है। कृषक चेतना के कवि दिनकर; भूख के कवि दिनकर : 'कब्र कब्र में अबुध बालकों की सारी हड्डी रोती है।' यही कृषक चेतना, यही भूख और भी तीव्र होकर शशिधर की कविताओं में आई है। इन पचहत्तर वर्षों में इस क्षेत्र का भूगोल इतना बदला है कि ''जैसे गिलहरी ह्वाइट हाउस में बदल गई है, पर इन दोनों कवियों की समानांतरता इस बदलाव के सतहीपन को व्यंजित कर ही देती है। बाजारवाद ने दिनकर के 'बैलों के ये बंधु' की भूख और पीड़ा और बढ़ा दी है और यह पीड़ा अब विदर्भ तक फैल गई है।

और आज भी भिखारी ठाकुर के विदेशिया का दुःख उसी तरह गांवों में बरकरार है। नान्ह लोग जीविका कमाने अपने घर-बार, मां-पत्नी को छोड़ पछांह जाते हैं और बिहार के सबसे बड़े त्यौहार छठ में भी वापस नहीं आ पाते हैं।

> झांझ की चोट से कट गया है चांद/ज्यादा आंच लगने से जल गया है चांद/चांद का बदन जगज-जगह स्याह है।

इन पंक्तियों की कारीगरी मोहक है। किसी विवशता से कमाऊ व्यक्ति छठ जैसे महार्वत में भी गांव नहीं लौट सका है। इस कारण उसका हृदय दुःख से दग्ध होकर स्याह हो गया है। षष्ठी का चांद कटा हुआ होता है। इस व्यक्ति के स्याह दुःखी हृदय को चांद आंच लगने से जला दीखता है और उसका बदन स्याह। चांद की स्याही प्रवासी के दुःखी हृदय का प्रक्षेपण है। इतनी ही प्रखर सामाजिक चेतना से सिक्त है 'सिमरिया घाट' खंड वाली कविताएं।

कई कविताओं में सादृश्यविधान की नवीनता उल्लास से भर देती है। यथा :

> बरसों तुम्हें उपेक्षित छोड़ा/सरपत जितना सड़क किनारे।/रख देना/चुपचाप हाथ पर/सितुआ जैसी घिसी हथेली/घर में टूटी चलनी जैसी/फेंकी रही झरोखे पर।

उपेक्षा से टूटे जीवन के लिए ये सादृश्य विधान अनमोल हैं। सादृश्य विधान की ताजगी के साथ करुणाद्रता बढ़ती ही गई है। जब सिमरिया घाट के कवि दिनकर पचहत्तर साल पहले लिख रहे थे, तब समय स्वच्छंदतावादी था। रोमांस परवान चढ़ रहा था :

> डुबकी रमणियां लगाती हैं/लट ऊपर ही लहराती हैं/जलमग्न कमल को खोज-खोज/मधुमक्खियां मंडराती हैं।

और सिमरिया में 'गंगा की दुर्गम कछार' के पास ही 'बाया की यह कृश विमल धार' भी बह रही थी। अब रामाज्ञा राय 'शशिधर' के समान बाया सूख गई है। यह एक प्राकृतिक घटना तो है ही, भारतीय जीवन का एक मेटाफर भी है। इन पचहत्तर वर्षों में भारतीय जीवन के और स्रोत भी इस देशी राज में सूख गए हैं। यथा :

> गंगा की काया में/सरी हुई बाया थी/लुप्त हुई।/इसके साथ ही रोमांस भी फट गया।/गदराई चोली की/याद गई/फिल्मी संवाद का संसार गया।/अब स्वच्छंदतावाद का स्थान यथार्थवाद ने ले लिया।/कास गया/ककड़ी-तरबूज गया/अर्थी के बंधन का/मूंज गया।

शशिधर का सिमरिया और दिनकर का सिमरिया एक-दूसरे के प्रतिलोम हैं।

रिया रिया रिया/रे रे क्यों, क्या किया।

एक अस्पष्ट ध्वनि, जो निष्फलता के बोध को जन्म देती है। अब विश्वग्राम का भारत गांव के भारत से, स्थानीय भारत से पूरी तरह विच्छिन्न हो गया है। ये दोनों अलग-अलग भारत हैं, जो एक-दूसरे के लिए अजनबी हैं। 'बुरे समय में नींद' की ये सब कठिनाइयां हैं। इस संग्रह में आकर रामाज्ञा राय 'शशिधर' कवि के रूप में अपनी अस्मिता पा लेते हैं।

बुरे समय में नींद/रामाज्ञा शशिधर/अंतिका प्रकाशन, सी-56/यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-II, गाजियाबाद-201005 (उ.प्र.) मूल्य : ` 100

गली नं.-1, सराय सैयद अली, मुजफ्फरपुर-842001, मो. 09430061479

कहने को जो बहुत कुछ है फिर भी

शशिभूषण सिंह

आमतौर पर माना जाता है कि कहानी ब्योरों में जाती है, जबकि कविता बिंबों में, किंतु हिंदी के समकालीन कवि पवन करण की कविताएं अक्सर ब्योरों में अपने को अभिव्यक्त करती हैं। वैसे तो घटनाओं में कविता की प्राण-प्रतिष्ठा करने वाले समर्थ कवि के रूप में कवि अरुण कमल का नाम लिया जाता है, किंतु अरुण कमल कविता में जहां 'क' आरंभी अनेकानेक प्रश्नों (क्या, कहां, कौन, किसलिए, कब, किसे आदि) को उभारने वाले और प्रकारांतर से उत्तर के लिए बेचैन कर देने वाले कवि हैं, वहां पवन करण में न सिर्फ प्रश्नाकुलता, बेचैनी अथवा तड़प भर है, बल्कि समाधान अथवा उत्तर की दिशाओं की ओर संकेत भी। कवि पवन करण का सद्यःप्रकाशित काव्य-संग्रह 'कहना नहीं आता' में ऐसे कई बिंदु दिखाई देते हैं, जहां वे प्रतिष्ठित प्रवृत्तियों से इतर अग्रधावन करते दिखाई देते हैं, किंतु इन सबके बावजूद कवि की विनम्र आत्म-स्वीकृति पाठक को अतिरिक्त तौर पर प्रभावित करती है—जिनके पास कहने को है/जो कहना चाहते हैं/जिन्हें कहना नहीं आता/मैं उन्हीं में से एक हूं (पृ. 48)

साहित्य में मिथकों का प्रयोग कोई नई बात नहीं है। खासकर कविता में अंतर्वस्तु और संवेदनानुभूति को प्रकाशित करने के उद्देश्य से प्रायः प्रत्येक युग में कवियों ने मिथकों का प्रयोग अपनी-अपनी तरह से किया है, किंतु गौरतलब है कि हिंदी कविता में प्रायः प्रचलित और प्रसिद्ध मिथकों और मिथकीय पात्रों को ही युगसंदर्भों से जोड़े जाने की परंपरा रही है। कवि पवन करण का प्रस्तुत काव्य-संग्रह इस दृष्टि से पाठकों को चमत्कृत कर सकता है कि इन्होंने ऐसे मिथकों और मिथकीय पात्रों को युगीन प्रासंगिकता के साथ पाठकों के समक्ष उपस्थित कर दिया है, जिन्हें हमारा समाज लगभग भूल चुका है। 'सूर्या सावित्री' और 'विश्वपला' ऐसे ही मिथकीय पात्र हैं। ये वैदिक मिथकीयपात्र समकालीन समय में अपनी प्रासंगिकता रखते हैं। भारतीय समाज के भीतर लैंगिक परिप्रेक्ष्य में वर्चस्ववाद ने किस तरह अपनी पैठ बनाई होगी, 'सूर्या सावित्री' कविता से इसे समझा जा सकता है, साथ ही वर्चस्ववाद के विरुद्ध संघर्ष को भी, जो प्रायः उसी समय से किसी-न-किसी रूप में चल रहा है। कवि इस ओर इशारा भी करता है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण पात्रों को जानबूझकर समाज की वर्चस्ववादी ताकतों ने अब तक छुपा रखा था—क्या छुपाई गई स्त्रियों से हमेशा/सूर्या सावित्री की पहचान.../जिसने तब पिता द्वारा चयनित/सोम को अपनाने से कर दिया इंकार/और अपने सहपाठी पूषा को चुना/साथ बिताने के लिए अपना जीवन/क्या बस इसलिए विवाह की वेदी के आगे/वचन हारती स्त्रियों को नहीं बताया गया/उसके बारे में कि कहीं उनमें से कोई/या कई पिता द्वारा चयनित वर से/न कर दें विवाह से इंकार/और कहें नहीं पिता पसंद भी मेरी होगी/और सूर्या सावित्री की तरह शर्तें भी मेरी। (पृष्ठ 30)

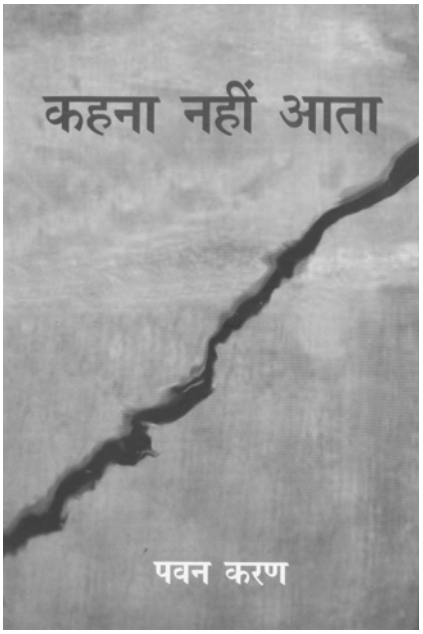

मिथकों की ऐसी सघन पड़ताल करने वाले कवि की दृष्टि उन प्रचलित मिथकों की ओर भी जाती है, जिन्हें आधुनिक समय में तोड़-मरोड़कर पेश किया गया है अथवा जिन्हें निजी स्वार्थवश कुछेक वर्चस्ववादी ताकतों ने गलत तरीके से प्रचारित-प्रसारित कर रखा है। 'रामपथ : तीन कविताएं' में कवि ने व्यापक तौर से इसका खुलासा किया है। कवि इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि मिथकों के ऐसे डिकोडीकरण के कारण ही हम धार्मिकता से धर्मांधता की ओर बढ़ते चले गए और प्रकारांतर से आम अवाम को भी इस कुचक्र में घसीट लेने का प्रयास होता रहा—रामपथ की करते हुए खोज वे नहीं खोजेंगे/इस पथ पर कदम-दर-कदम बिछी वह छांव/जेठ दुपहरी में भी सूरज नहीं बेध पाया जिसे/रह गया पहुंचने को भू पर छन-छन कर विवश/कहां चली गई? कौन चुरा ले गया/जहां तक चल सकें कदम वहां तक उगा हरा। (पृ. 33)

आम अवाम और विकास की धारा में पीछे छूट गए लोगों के प्रति कवि की पक्षधरता पूरे संग्रह में दिखाई देती है—कहीं मौन तो कहीं मुखर, किंतु कहीं भी कवि ने इसे नारेबाजी में बदलने की नाटकीयता नहीं दिखाई है। यह एक समर्थ कवि का काव्य-कौशल है कि बिना अपनी पक्षधरता का राग अलापे उसने अपना पक्ष पूरी संजीदगी के साथ पाठकों के समक्ष रख दिया है। वैश्वीकरण और उदार

अर्थव्यवस्था के नारों के बीच विकास का भ्रम फैलाने वाली सरकारों और संस्थाओं की दृष्टि जहां नहीं जा पाती, कवि की आत्मदृष्टि वहां जा पहुंचती है और समस्याओं के मूल कारणों को ताड़ लेती है—देखो किस कदर पूरी दुनिया से पैसा चला आ रहा है/हमारी तरफ बहकर, अब क्या कमी,/अब काहे की गरीबी और भुखमरी/जिसकी जितनी सामर्थ्य वह उतना जेबों में भर ले/सबके लिए सब खुला है, जो न भर पाए वह अभागा। (पृ. 36) गौरतलब है कि यह अभागा और कोई नहीं, बल्कि भारत की सत्तर प्रतिशत जनता है, जिसे वैश्वीकरण के दो दशकीय नाटक से कुछ हासिल नहीं हुआ, बल्कि उसकी मुश्किलें बढ़ती गईं। साथ ही बढ़ती गई अमीरी और गरीबी के बीच की खाई—मैं उनसे नब्बे लाख गुना कमतर/बिस्तर पर सोता हूं नब्बे लाख गुना/कमजोर घर में बिताता हूं अपना जीवन/मेरे बच्चों की तुलना में उनके बच्चे/नब्बे लाख सीढ़ियां ऊपर खड़े हैं। (पृ. 38) यह उदारीकरण, बाजारवाद और वैश्वीकरण जैसे जुमलों के बीच विकास का असली चेहरा है, जिसे इनकी समर्थक सरकारें और संस्थाएं उजागर नहीं करतीं, किंतु एक जनपक्षधर कवि की दृष्टि से छुप नहीं पाता। कवि की संवेदनशील दृष्टि इस बात को भी ताड़ लेती है कि आम जन के आत्मीय प्रयासों से ही विश्व को समरस बनाया जा सकता है—हां, मगर आप सब पृथ्वी पर जितने/कोई अरब सवा छह थामकर/अपने हाथों में एक दूसरे के हाथ/हो जाएं खड़े बनाते हुए कतार/तो एक नहीं, दो नहीं, पूरे बयासी बार/भर सकते हैं सब पृथ्वी को बांहों में अपनी/तब सब एक दूसरे का थामे हाथ/अपनी पृथ्वी को चूमते सवा छह अरब/न कोई मजबूत न कोई कमजोर/न कोई अघाया न कोई भूखा/न कोई डालर न कोई रुपया/न कोई न्यूक्लियर न कोई पत्थर/तब यह पृथ्वी सबकी जद में/और सबकी जद में मैं। (पृ. 11)

पिछले काव्य-संग्रहों की भांति इस काव्य-संग्रह में भी स्त्रियों के प्रति कवि का तरल नजरिया दिखाई पड़ता है। स्त्री चाहे जहां की हो, जिस किसी भी समाज अथवा देश की हो, पुरुष वर्चस्व का शिकार होती अथवा पुरुषों की सुविधाओं की बलि चढ़ती ही है। यदि हम जनजातीय समाजों को छोड़ दें, तो अब तक दुनिया का कोई भी समाज इतना सभ्य या प्रगतिशीलत नहीं हो पाया है, जहां स्त्रियों को सचमुच की बराबरी हासिल हो। हालांकि जनजातीय समाजों की स्त्रियां भी गैर-जनजातीय समाज के तथाकथित सभ्य लोगों के शोषण की शिकार होती ही हैं। इस बात की समझ का कवि पवन करण में शिद्दत के साथ महसूस की जा सकती है—वह वन पथ की स्वामिनी शबरियां/क्या वह बस मिथक थीं, नहीं थीं तो उन्हें/किसने खदेड़ दिया उस जीवन से/कब-कब कौन आया अपनी जीप पर सवार होकर/उनसे दारू, मुर्गा की मांग करने/जबरदस्ती उन्हें रौंदते, खसोटते हुए/उनके पेट में अपना बीज डालने/इस पथ के उन स्वामियों को बेदखल करने। (पृ. 34)

किंतु इस काव्य-संग्रह में स्त्रियों के प्रति पूर्ववत् तरलता का आग्रह भर नहीं है, बल्कि समाज के उन तमाम जिम्मेदार लोगों के प्रति एक रोष भी है, जिनके गैर-जिम्मेदाराना रवैये से कवि का आमना-सामना होता है। 'गूगल' और 'फेसबुक' के आज के दौर में लाखों-करोड़ों फेसबुकियों की नज़रों से इथियोपिया की भूख से मरणासन्न लड़की की वह तस्वीर गुजरी, जिसके मरने की प्रतीक्षा में पास ही एक गिद्ध बैठा है। पत्रकारिता जगत में इसकी काफी सराहना हुई और इस तस्वीर को खींचने वाले फोटोग्राफर को कोई बड़ा-सा पुरस्कार भी मिला। लोगों ने 'फेसबुक' के माध्यम से इस तस्वीर को एक-दूसरे के साथ 'शेयर' भी किया। ऐसे रवैये पर किसी भी संवेदनशील व्यक्ति अथवा कवि का घृणा और आक्रोश से भर उठना स्वाभाविक ही है। पत्रकारिता का चेहरा भी यदि संवेदनशून्य हो जाए, तो समाज और दुनिया आखिर किससे मानवता की उम्मीद करे—भूख से मरने जा रही लड़की/और उसकी मौत के इंतजार में बैठे/गिद्ध की फोटो जिस फोटोग्राफर ने उतारी/उस फोटो पर उसे जो पुरस्कार मिला मैं उसे पुरस्कार/और उस फोटोग्राफर का नाम तक लेना नहीं चाहता.. ./वरना दुनिया का जो फोटो तुम खींच रहे हो ना/एक दिन तुम भी उसके बोझ के नीचे दबकर मरोगे। (पृष्ठ 103-104)

मुख़्तसर यह कि कवि पवन करण का काव्य-संसार इस काव्य-संग्रह तक आते-आते काफी व्यापक हो चुका है। इनकी कविताओं में सर्वथा बदला हुआ, जो अनुभव-जगत दिखाई देता है, वह कविता के रसिक पाठकों को अपनी व्यक्तिगत आग्रहों और चिंताओं का साझीदार बनाता है।

कहना नहीं आता/पवन करण/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ` 150

म.गा.अ.हि.वि.वि., क्षेत्रीय केंद्र, इलाहाबाद, सरोजिनी नायडू मार्ग, सिविल लाइंस, इलाहाबाद

तद्भव समय में उम्मीद के स्फुलिंग

सुनीता गुप्ता

कल्पना के मायावी संसार से बचने के लिए कविता से दूर जाते हुए अचानक पाना कि शब्दों की सीढ़ी पकड़ अनायास उस लोक में उतर आए हों, जहां कविता का संसार बिखरा पड़ा हो, तो कैसा लगे। कवि सिद्धेश्वर सिंह के नवीनतम काव्य-संग्रह 'कर्मनाशा' की कविताओं से गुजरना कुछ इसी तरह है। यहां प्रयुक्त शब्द इतने परिचित, आत्मीय और इसलिए इतने लुभावने हैं कि इनसे बचकर निकलना अत्यंत कठिन है। बड़ी बात यह है कि ये कविताएं कल्पना लोक से परे एक ऐसे लोक में ले जाती हैं, जहां अपने आसपास के ही दृश्य बिखरे पड़े हैं। यह वह संसार है, जो हमारा बहुत जाना-पहचाना है। सिद्धेश्वर सिंह जब कर्मनाशा जैसी अपवित्र मानी जाने वाली नदी के नाम पर अपने काव्य-संकलन का शीर्षक रखते हैं तो इससे सहज ही उनकी काव्य प्रतिबद्धता का अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे-जैसे हम इसकी गहराई में उतरते जाते हैं, यह स्पष्ट होता जाता है कि कवि यहां उस अस्पृश्य लोक को प्रस्तुत करने को आतुर है, जो अब तक हमारे लिए चिरपरिचित होते हुए भी प्रायः अप्रस्तुत ही रहा है।

'कर्मनाशा' की कविताएं एक बदलते समय का प्रामाणिक दस्तावेज बनकर उभरती हैं। तेजी से बदल रहे इस परिदृश्य में लहलहाती फसलों का स्थान बड़ी-बड़ी इमारतों ने ले लिया है, पत्रों की जगह ई-मेल हैं, पर्वतों की पिघलती बर्फ है, प्रदूषित हो रही प्रकृति है, कस्बे का ट्रैफिक जाम है, धुएं व डीजल की गंध है, हार्न की चिल्ल-पों और जेनरेटर का शोर है। कवि देख रहा है कि जहां कभी फसलें लहलहाया करती थीं, वहां अब ऊंची-ऊंची अट्टालिकाएं उठ गई हैं। फेसबुक की 'अनवरत-अहर्निश टिक-टिक टुक', और लैपटाप में 'नए युग की माया का विस्तार' से आतंकित कवि इंटरनेट की शून्य लहरों में, स्थान खोजता अर्द्धरात्रि के एकांत में पुराने पीले पत्रों को निकालता है, जो ई-मेल के युग में अपनी सार्थकता खो चुके हैं और संवेदना के छूटे हुए अवशेषों को ढूंढ़ता है। यह 'व्योम में विचर रहे काव्य' के आधार की तलाश है—

''यत्र तत्र उगते बिलाते दीख रहे हैं
उम्मीदों के स्फुलिंग
कविता की यह नन्ही-सी नाव
हिचकोले खाए जा रही है लगातार''

कवि इस तद्भव समय से कविता के द्वारा जूझने का उपक्रम करता है—

''हाथों में है शताब्दियों से बरती जा चुकी
पतवार/और...और...और/मंझधार...
मंझधार...मंझधार''

जब सब कुछ कोमल और सुंदर विनष्ट हो रहा हो, तब कविता कैसे रेशमी गीत रच सकती है। इस तेज आपाधापी के समय में

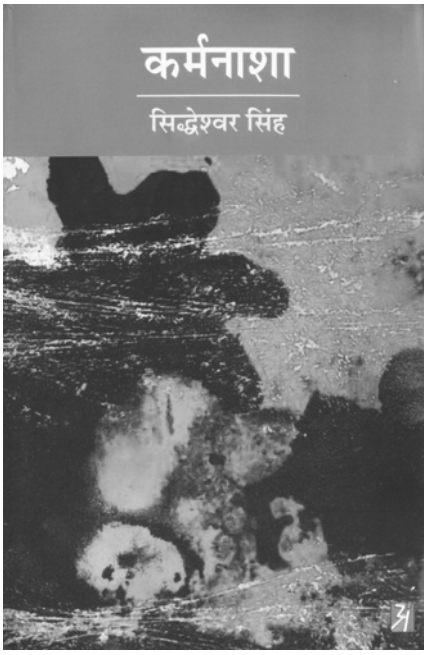

वह बार-बार कविता पर संशय करता है—

''इस तद्भव समय में/कहां से प्रकट करूं/तत्सम शब्द संसार/रेशमी रेशेदार शब्दों में कैसे लिखूं—/कुछ विशिष्ट कुछ खास।''

पर यह कविता ही है, जो स्वप्न और उम्मीद को बचाए हुए है। कर्मनाशा की कविताएं एक तद्भव समय में 'उम्मीद की स्फुलिंग' की तरह है। ऐसा अनायास नहीं है कि समूची पुस्तक में उम्मीद, रोशनी, वसंत और कविता शब्द बार-बार आए हैं। तेजी से बदलते परिदृश्य के बीच कविता के लिए जगह घट रही है। ऐसे में कस्बे में गुल हो गई बिजली के दरम्यान जेनरेटर के शोर व पीली रोशनी में काव्य पाठ का आयोजन इस समूचे परिवेश में 'एक अदना-सा' पर महत्त्वपूर्ण 'हस्तक्षेप' बनकर उभरता है। पीली निस्तेज रोशनी में खामोशी के विरुद्ध जद्दोजहद करता कविता का स्वर संघर्ष व जिजीविषा का पर्याय बन जाता है—

''इतना जरूर कहूंगा/कि कवि गोष्ठी से लौटकर/डायरी में लिखे थे केवल दो ही शब्द/उनमें पहला था—कविता/और दूसरा—उम्मीद/सच कहूं उस रात खूब आए अच्छे सपने/और खूब आई गहरी और अच्छी नींद''

कविता, उम्मीद और स्वप्न एक-दूसरे से संबद्ध हैं। यह कविता ही है, जो स्वप्न को संभाले हुए है और स्वप्न की कोख से ही तो उम्मीदें जन्म लेती हैं। कवि का स्वप्न 'पगलाए हिरन-सा अनवरत दौड़' लगाए जा रहा है। कवि के सपने आकाश छूते नहीं हैं, उसकी चिंताओं में हथिया नक्षत्र के न बरसने की पीड़ा है, बटलोई में पकते भात की चिंता है। उसके सपनों में केवल पहाड़, नदियां, जंगल, झरने और बुरांश के फूल, आड़ू, सेब, खुमानी के पेड़ ही नहीं आते, बल्कि जंगल, गायें, पुल से गुजरते बच्चे, घास काटती स्त्रियां और बोझ ढोते मजूदर भी आते हैं। उसके सपनों में एक

बेहतर दुनिया का सपना शामिल है, समय के साथ गिरते-पड़ते वह दौड़कर पहुंचना चाहता है वहां, जहां 'क्षितिज पर उभरता दिखाई देता है एक बेहतर दुनिया के सपनों का गांव'।

वसंत भी कविताओं में बार-बार उपस्थित होता है। वसंत की चर्चा आते ही उसकी दृष्टि सूखे, मुरझाए, टूटे और उदास चेहरों पर जाती है। एक बेहतर दुनिया का स्वप्न कवि को निरंतर आगे की ओर ले जाता है। कवि वसंत की तलाश में निकलना चाहता है। वह वसंत को खेतों, कटोरी के अंकुरित होते चने, कवियों की डायरी व बच्चों के भारी-भरकम बस्तों में भी तलाशना नहीं भूलता। कविता के द्वारा वह वसंत की नींद में हस्तक्षेप करना चाहता है, क्योंकि उसे विश्वास है कि 'वसंत अभी मरा नहीं है'—

> ''वसंत अभी मरा नहीं है/आओ उसकी नींद में हस्तक्षेप करें/और मौसम को बदलता हुआ देखें।''

सिद्धेश्वर सिंह का कवि कर्म इसी वसंत को बचाने व रोशनी को ढूंढ़ने के उपक्रम में घटित होता है।

सिद्धेश्वर सिंह की कविताएं जीवन के छंद रचती हैं, उनमें शिल्प की तराश और कल्पना की उड़ान कम है। शब्दों के सटीक प्रयोग और भाषा की मितव्ययिता के द्वारा वे अपने आसपास के यथार्थ के उन बारीक रेशों को चुनते हैं, जो अपने समय का जटिल यथार्थ रचती हैं। सिद्धेश्वर सिंह के पास जो लोक है, वह एक कस्बाई परिवेश से संबद्ध है और उनकी कविता उस परिवेश को समस्त बारीकियों के साथ साकार करती है। यह वह लोक है, जो आमतौर से कवियों की दृष्टि से ओझल रहा है। कविता का आलंबन या तो ग्रामीण परिवेश बनता है, जहां प्रकृति अपनी समस्त मासूमियत के साथ अंगड़ाई लेती है, या फिर महानगरीय जीवन की वह चकाचौंध, जहां सपने आकार लेते व दम तोड़ते हैं, पर यहां कवि की दृष्टि उन कोनों-अंतरों पर है, जो समय के सच का एक बृहद, पर उपेक्षित अंश है। कस्बे का नींद में नहाया हुआ रेलवे स्टेशन, टूटी कुर्सियां, इंतजार में खड़े तिपहिये वाहन—यह देश के नक्शे के बड़े हिस्से का सच है और जो अक्सर हमारी निगाहों से गुजरते तो हैं, पर बांधते नहीं। कवि इन अछूती अस्पृश्य मानी जाने वाली जगहों पर थमता है। एक कस्बा अपनी समस्त विरूपताओं-विशिष्टताओं में साकार हो उठा है। यहां न गांव का खुला वातावरण है, न महानगर की जगमगाहट। यहां अंधेरे व रोशनी के बीच का धुंधलका है, जिसमें सारा कार्य व्यापार चलता है। यहां संध्या सुंदरी बनकर नहीं उतरती, वह आती है उजाले पर ग्रहण बनकर, ''बस थोड़ी देर में आ जाएगा अंधेरा, अपने जबड़ों में दबाए उजाले के नन्हे शावक''। इस धुंधलके को तोड़ता है जेनरेटर का शोर, जिसके काले धुएं में पीली रोशनी दम तोड़ती प्रतीत होती है। गुम हो रही बिजली के बीच बाजार अपने कारोबार में व्यस्त है। चौराहे पर रेंगते रिक्शे, मंथर गति से चलतीं साइकिलें, फर्राटेदार मोटरगाड़ियां, ठेलों पर भुनतीं मूंगफलियां, ट्रैफिक जाम, ए. टी.एम. की मशीनें, सिनेमाघर में लगी अश्लील फिल्में—सब मिलकर एक कस्बे के जीवन को रूपायित करते हें। ये वे जगहें हैं, जो इतिहास के पृष्ठ से छूटी हुई हैं, 'इस जगह का इतिहास भी लिखा ही नहीं गया' और इसलिए 'एक उदासी में डूबा-सा रहता है भूगोल'। यह परिवेश एक साथ कई समयों का फ्यूजन बनकर उभरता है। यहां से पुरानी सदी अभी पूरी तरह से विदा नहीं हुई है, पर नई सदी की जटिलताएं संजाल बुनने लगी हैं, किंतु कवि उम्मीद का दामन नहीं छोड़ता।

नाउम्मीदी के दौर में कस्बा उम्मीद की लौ को जलाए हुए है। नगर निगम की बिल्डिंग में आयोजित कवि गोष्ठी में बल्बों की पीली निस्तेज रोशनी में खामोशी से जद्दोजहद करता कविता का स्वर, संघर्ष व जिजीविषा का प्रतीक बन जाता है।

कवि जब पहाड़ पर जाता है तो पहाड़ों के विराट सौंदर्य के परिपार्श्व में उसकी दृष्टि पहाड़ों की अमलता को नष्ट करने वाले दृश्यों पर केंद्रित हो जाती है। उसकी सतर्क आंखें देखती हैं कि किस प्रकार बाजार की संस्कृति पहाड़ों के अछूते सौंदर्य को विनष्ट कर रही हैं। पहाड़ों की अमलता निर्बाध भोगवाद की भेंट चढ़ रही है। रोहतक की पहाड़ियों का निर्मल सौंदर्य अब कविता की कड़ियां नहीं बनता, गाड़ियों के शोर व जीवन की आपाधापी में वह अप्रासंगिक हो गई है—

> ''हवा में पसरी है/डीजल और पेट्रोल के धुएं की गंध/लगा हुआ है मीलों लंबा जाम/आंखें थक गई हैं/ऐसे मौके पर कविता का क्या काम''

नए वर्ष के उत्सव का बेपनाह शोर घोंसले में दुबके पक्षियों की नींद उड़ा रहा है। रातों की स्याही को नजरअंदाज कर अपने ही गाने, खाने, पीने, अघाने और उलट देने में व्यस्त दुनिया में कविता के लिए उसे कोई जगह नहीं दीखती। पहाड़ अब महज पहाड़ नहीं रह गए हैं, जैसा पंत या महादेवी या अन्य कवियों ने चित्रित किया है, ''हमारी लालसाओं की भट्ठी की आंच से/पिघल रही है जिसकी देह।''

वह हिमालय की आर्त पुकार को अलमारियों में कैद पुस्तकों से निकालकर कोपेनहेगन के सम्मेलन तक पहुंचाना चाहता है।

चाहे प्रकृति हो या प्रेम, हर जगह कवि गहरे संवेदना से सिक्त है। संग्रह की प्रेम कविताएं अनूठे उजास से भरी हुई हैं। प्रेम यहां अस्तित्त्व से एकाकार हो उठता है। 'चुपके से तुम्हारा नाम लिया और भूल गया अपना नाम' या 'उस बीते हुए दिन में, जो कुछ भी बना रह गया है स्मरणीय, वह तुमसे है', इस तरह की कविताएं अपनी सहजता में अपूर्व राग से सिक्त हैं। 'कितना कठिन है और लंबा है, प्रेम जैसे एक छोटे-से शब्द का उच्चारण'', इन पंक्तियों से जो बाहर आता है, वह अपनी अनभिव्यक्ति में भी संपूर्ण है, पूरे वजूद को स्पर्श करता हुआ। यह प्रेम किसी अदृश्य जगत से किन्हीं जटिल दुरूह अनुभूतियों के बीच से नहीं उभरता, इसे तो 'रोटी की गमक', 'तरकारी की तरावट' और 'चूल्हे की दिपदिप करती आग' में भी महसूस किया जा सकता है।

यह आश्वस्तिपरक है कि कवि अपने कवि होने के दुर्वह भार से बोझिल नहीं है, न ही अपने कवित्व के अनूठेपन के अहं से तना हुआ। छंद रचते हुए एक तरफ तो वैविध्य के ताने-बाने से गुंथित जीवन है तो दूसरी तरफ अपने पूर्ववर्ती कवियों की छंद परंपरा। पहाड़ के गीत रचते हुए उसे पंत और कभी महादेवी याद आती हैं, दक्षिण के पीले चमकीले आम जितेंद्र श्रीवास्तव की याद दिलाते हैं। उनकी कविता में स्थान-स्थान पर हरिऔध, मैनेजर पांडेय, वेणुगोपाल या मुक्तिबोध का उपस्थित हो जाना अनायास नहीं है। ये नए संदर्भ में कविता को पारिभाषित करने के साथ-साथ इस बात का भी विश्वास दिलाते हैं कि कवि नितांत इसी दुनिया का वासी होता है, किसी

अपरिचित लोक का नहीं।

कविता रचते हुए कवि कभी हल्द्वानी तो कभी तमसा के तट, कौसानी की घाटी और समर हिल की पहाड़ियों पर उपस्थित हो जाता है। उसकी कविता उत्सर्ग एक्सप्रेस और गरीब रथ के भी चक्कर लगा आती है, बालिका वर्ष और बाल दिवस पर भी टिप्पणी कर आती है। कविता को नगरपालिका की बिल्डिंग, बटलोई के खदबदाते भात, चक्की की गोद से निकले आटे, कालिख पुते चूल्हे, कुदाल थामे हाथ और बच्चों की अटपटी दुनिया के ठीक बगल में उपस्थित पाना कविता व जीवन को नजदीक पाने का सुखद एहसास पैदा करता है और यह नजदीकी कविता में आस्था उत्पन्न करती है—

''मुझे हथिया नक्षत्र पर नहीं/बटलोई में पकते भात पर/कविता लिखनी चाहिए।''

कवि को स्थान-स्थान पर कविता पर संशय करते हुए देखा जा सकता है। कविता रचते हुए कविता पर सवाल उठाना कविकर्म की ईमानदारी का परिचायक है। साथ ही यह भी बतलाता है कि समय और समाज से दूर जाकर कविता अपनी प्रामाणिकता खो रही है। लोगों के बीच जगह बनाने के लिए उसे जीवन से जुड़ना होगा और बदलते समय का साक्षी होना होगा। उनकी कविताएं कविता और जीवन के बीच पैदा हो गई खाई को पाटती प्रतीत होती हैं। एकदम स्पष्ट शब्दों में वे लिखते हैं—''बहुत हुई कविता/शब्दों का केंचुल उतार धरो/बदलो बन जाओ मनुष्य/बदल रहा है संसार।''

सिद्धेश्वर सिंह का काव्य-संग्रह जीवन और कविता के बीच अनवरत आवाजाही का परिणाम है। जब वे लिखते हैं, ''कविताएं लिखते हुए कब तक, तिलिस्म टूटने का इंतजार करोगे सिद्धेश्वर सिंह?'' तो जीवन व कविता के बीच की विभाजक रेखा विलुप्त होने लगती है।

कर्मनाशा/सिद्धेश्वर सिंह/अंतिका प्रकाशन, सी-56/यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन एक्सटेंशन-2, गाजियाबाद-201005//मूल्य : ` 225

306, साईं कारनेशन, कंकड़बाग मेन रोड, लोहियानगर पोस्ट ऑफिस, पटना-800020
मो. 9473242999

ईमानदार और प्रतिबद्ध आलोचना की वापसी

अजय कुमार पांडेय

आज हिंदी आलोचना काफी संदिग्ध व अविश्वसनीय हो चली है और वह व्यैक्तिक संबंधों का निर्वाह तथा प्रायोजित लेखन का पर्याय बनकर रह गई है। इसके बावजूद कुछ आलोचकों ने हिंदी आलोचना की साख और उसे निश्तेज होने से बचाए रखा है। मधुरेश उन्हीं आलोचकों में एक हैं, जिन्होंने अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता एवं तटस्थता के दम पर व्यक्तिगत राग-द्वेष से परे अपना आलोचकीय महत्त्व कायम किया है, जिसके चलते उन्हें हिंदी साहित्यिक क्षेत्र में काफी सम्मान प्राप्त है। इधर हाल ही में मधुरेश पर केंद्रित 'आलोचना सदैव संभावना है' आलोचक प्रदीप सक्सेना के संपादन में एक किताब आई है, जिसमें कुल तीस लेखकों ने अपने लेखों के जरिए मधुरेश के अब तक के आलोचना-कर्म की भिन्न-भिन्न नजरिए से व्यापक व गहराई से जांच-पड़ताल की है। इस पुस्तक को संपादक ने प्रख्यात आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा और अपने श्रम से मूर्त्त रूप देने वाली इस पुस्तक में शामिल सभी लेखकों को समर्पित किया है और इस पुस्तक को सात खंडों में और संपादकीय को भी शामिल कर लिया जाए तो आठ खंडों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक खंड के अनुरूप ही उसके अंतर्गत लेखों को रखा गया है।

प्रदीप सक्सेना ने किताब के शीर्षक के नाम से ही लिखी भूमिका में हिंदी आलोचना के समकालीन परिदृश्य की चर्चा करते हुए उसमें उत्तरोत्तर आ रही गिरावट और आलोचकों के वैचारिक विचलन पर चिंता व्यक्त की है और उन्होंने समकालीन आलोचना के संदर्भ में बड़े ही स्पष्ट रूप से कहा है, ''तो यह दौर है, जिसमें अगंभीरता अभूतपूर्व ऊंचाइयां छू रही है।'' ''लेकिन आजकल ऐसा मार्क्सवाद भी उपलब्ध है, जिसमें श्रम को छोड़कर और तमाम चीजों का महत्त्व है। जाहिर है मार्क्सवाद के भी कई व्यक्तिगत, दलीय व ग्रुपीय मॉडल उपलब्ध हैं। श्रमविहीन भी और श्रम संयुक्त भी।'' इसलिए, ''जानना चाहिए कि सर्जक और आलोचक श्रम के विविध रूपों, प्रक्रियाओं और भूमिकाओं से कितना और कैसा संबंध रखते हैं?'' इस किताब की तैयारी के पीछे अपनी मंशा साफ करते हुए प्रदीप सक्सेना कहते हैं, ''यह हमारा दृढ़ मत है कि श्रम से विछिन्न कोई मार्क्सवाद या मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र न बना, न बन सकेगा। मेरे मन में मधुरेशजी के 40 वर्षों के श्रम को ध्यान में रखते हुए जो मूल्यांकन प्रस्तुत करने का विचार आया, उसमें सर्वप्रथम कसौटी यही थी कि मेरे सम्माननीय ने मार्क्सवादी का न केवल साथ नहीं छोड़ा, उसका एक मॉडल भी

बनाया। कम मुखर, गहन और रचना केंद्रित। वे खरे उतरे। वे मेरे टीचर रहे, भाई, मित्र, या साथी, या भले इन्सान, या महान, सबकी बुनियाद मार्क्सवाद ही था। व्यक्तिगत संबंधों की सारी शोभा मेरे लिए विचारधारा में ही है। यह मेरी सीमा है। मेरे सारे रिश्तों की बुनियाद मार्क्सवाद ही है।''

इस किताब के पहले खंड, 'अपनी जमीन से' में सिर्फ मधुरेश का ही एक 'मैं, मेरा समय और विचारधारा' संस्मरणात्मक लेख संकलित है, जिसमें बरेली कॉलेज में पढ़ाई के दौरान वहां की साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों को बड़ी संजीदगी के साथ याद किया है तथा उन लोगों से भी बड़ी आत्मीयता बरती है, जिनके सान्निध्य में उन्होंने अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया और अपनी दिशा तय की। उन दिनों को याद करते हुए मधुरेश ने लिखा है, ''एक छात्र के रूप में मेरा यह समय कुल मिलाकर आठ वर्ष था—सन् 53 से सन् '61 तक। मेरे भावी निर्माण का समय भी यही था। मेरी विचारधारा और विश्वदृष्टि का निर्माण इसी दौर में हुआ। यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, वृंदावनलाल वर्मा, रांगेय राघव आदि से मेरे पत्राचार की शुरुआत का दौर भी यही है।''

दूसरे खंड—'विचार और प्रतिक्रिया' में वरिष्ठ आलोचक शिवकुमार मिश्र, मैनेजर पांडेय, गोपाल राय, राजेंद्र कुमार, कर्मेंदु शिशिर, वैभव सिंह के लेख शामिल हैं। शिवकुमार मिश्र अपने लेख 'मधुरेश का आलोचना-कर्म—मेरी निगाह में' उनके डॉ. रामविलास शर्मा की समीक्षा एवं यशपाल और जैनेंद्र कुमार की आलोचना विषयक कार्यों की चर्चा करते हुए कहते हैं, ''मेरे विचार से मधुरेश के आलोचना-कर्म की मुख्य विशेषता और अपने समय के पहली कतार के कथा-समीक्षकों में उनकी पहचान का मुख्य कारण मधुरेश की आलोचना-दृष्टि की, किसी भी तरह के आग्रहों-पूर्वाग्रहों से सर्वथा रहित, उनकी वह वस्तुनिष्ठता और उससे जुड़ा वह आलोचनात्मक विवेक ही है, जिसे आजीवन अब तक मधुरेश देश-विदेश की ज्ञान-संपदा के अध्ययन-मनन के क्रम में अर्जित करते रहे हैं। वस्तुतः उनका अर्जित यह आलोचनात्मक विवेक ही है, जिसने उनकी आलोचना दृष्टि को, आलोचना के वास्तविक धर्म से विचलित नहीं होने दिया है, उसे तथ्य-पुष्ट और तर्क-पुष्ट, वस्तुनिष्ठ आलोचना बनाए रखा है।

मैनेजर पांडेय ने अपने लेख 'क्या आलोचना केवल प्रतिवाद की संस्कृति है?' में संकेत दिया है, ''स्वयं मधुरेश ने अच्छी और सार्थक आलोचना के लिए जिन शर्तों की ओर संकेत किया है, उनसे संवाद की संभावना बनती है।'' अपनी बातों के समर्थन में वे मधुरेश के लेख 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल : उच्छेदवाद की व्यर्थता का साक्ष्य' के हवाले से कहते हैं, ''इसमें एक ओर रामचंद्र शुक्ल से संबंधित नीलकांत की दृष्टि, समझ और सोच का प्रतिवाद है तो दूसरी ओर रामचंद्र शुक्ल के आलोचनात्मक चिंतन से संवाद की कोशिश।''

आलोचक गोपाल राय ने 'मेरे हमसफर : मधुरेश' के जरिए मधुरेश की समीक्षा की प्रमुख कृतियों की चर्चा करते हुए अपने और उनके आत्मीय संबंधों को याद किया है और 75 वर्ष पूरे कर रहे मधुरेश को शुभकामना दी है। वास्तव में यह लेख एक सामान्य-सा शुभकामना संदेश बनकर रह गया है।

तीसरा खंड—'आलोचक का आकाश' में श्रीनिवास शर्मा, तक्कोलु माचि रेड्डी, रामजी तिवारी, अमीरचंद वैश्य और रचना शर्मा के लेख शामिल हैं। सभी लोगों ने अपने-अपने तरीके से मधुरेश का अच्छा मूल्यांकन किया है, किंतु रचना शर्मा मधुरेश की शिष्या होने की वजह से उन पर खुलकर नहीं बोल पाई हैं और उनका लेख सिर्फ मधुरेश के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन ही कर पाया है, जबकि यह रचनात्मक गुरुदक्षिणा के लिए उपयुक्त अवसर था। इन लेखों में ही शामिल यशपाल और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' द्वारा मधुरेश को लिखे गए पत्रों को केंद्र में रखकर लिखा गया नवोदित आलोचक व कवि रामजी तिवारी का लेख 'पत्रों के आईने में मधुरेश' काफी प्रभावी व आकर्षक है। इन पत्रों के आधार पर लेखक ने मधुरेश का व्यक्तित्व निर्धारण करने का प्रयास किया है और इन पत्र रूपी आईनों में उसने मधुरेश की जो तस्वीर देखी है, उससे उन साहित्यकारों के साथ मधुरेश के निजी संबंधों का भी पता चलता है।

इस पुस्तक के अगले खंड—'कसौटी पर' के अंतर्गत नमिता सिंह, रविभूषण, वीरेन्द्रमोहन, विनोद शाही, अजय वर्मा और गरिमा श्रीवास्तव ने मधुरेश के विभिन्न रचनात्मक पक्षों और उनकी दृष्टियों पर गंभीरता से विचार किया है। इस क्रम में नमिता सिंह ने अपने लेख 'मधुरेश : साधक हैं पुरोहित नहीं' में कहानी समीक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए मधुरेश के समीक्षा कार्यों पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

गरिमा श्रीवास्तव ने 'मधुरेश : स्त्री-कथाकारों की समीक्षा अर्थात...' के माध्यम से स्त्री कथाकारों की समीक्षा के अनुक्रम में मधुरेश द्वारा इला डालमिया के उपन्यास 'छत पर अपर्णा', शशि प्रभा शास्त्री के 'उम्र एक गलियारे की' तथा नासिरा शर्मा के उपन्यास 'ठीकरे की मंगनी' पर लिखी गई उनकी समीक्षा पर एक गंभीर दृष्टि डाली है।

'दाय-बोध' खंड में मधुरेश द्वारा कुछ प्रमुख साहित्यकारों पर लिखी गई चर्चित आलोचना एवं उनकी उपन्यास-समीक्षा को लेकर लिखे गए लेख हैं, जिसमें छः लेखकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पहला लेख रणवीर सिंह का 'मधुरेश के पं. राधेश्याम कथावाचक' है। यह लेखक पं. राधेश्याम कथावाचक का एक संक्षिप्त जीवन-परिचय और भारतीय नाट्य जगत में उनके योगदान के अलावा अन्य कुछ बता पाने में असमर्थ है और न ही पं. राधेश्याम कथावाचक के संबंध में मधुरेश द्वारा किए गए कार्यों पर ही अपनी कोई राय बना पा रहा है। इसलिए यह एक सामान्य कोटि का लेख है। इसके पश्चात् युवा आलोचक वेदप्रकाश ने 'मधुरेश की उपन्यास-समीक्षा' की बेहद अच्छी विवेचना की है। इस लेख में वेदप्रकाश ने पुस्तक-समीक्षा का समकालीन परिदृश्य और उसकी प्रवृत्तियों पर विचार करते हुए इनके संदर्भ में मधुरेश की समीक्षावृत्ति का बेबाक आकलन किया है और रामविलास शर्मा व मधुरेश के बीच की वैचारिक कड़वाहट का उल्लेख करते हुए मधुरेश के अंतर्विरोधों पर भी खुलकर बात की है। संतोष कुमार चतुर्वेदी ने अपने लेख 'मधुरेश के राहुल : बात बोलेगी हम नहीं' के द्वारा राहुल संबंधी मधुरेश के कार्यों पर सम्यक् दृष्टि डाली है। संजीव कुमार लेख 'मधुरेश के रांगेय', सुभाषचंद्र का 'मधुरेश के यशपाल' और रामसुधार सिंह का 'मधुरेश के भैरव' लेख भी इस किताब की अच्छी प्रस्तुति हैं।

अंतिम खंड मधुरेश पर है, जिसमें मधुरेश द्वारा प्रदीप सक्सेना को समय-समय पर लिखे गए पत्रों का संकलन है। इन पत्रों को पढ़ने

से दोनों के बीच की पारस्परिक आत्मीयता, ताप और अंतरंगता महसूस की जा सकती है। इसके अलावा सामयिक संदर्भों एवं प्रसंगों पर अभिव्यक्त मधुरेश के विचारों का पता चलता है। चूंकि ये पत्र व्यक्तिगत रूप से प्रदीप सक्सेना को लिखे गए थे, इसलिए बिल्कुल स्पष्ट और औपचारिकता से परे हैं। जो भी पत्र हैं, उनमें मधुरेश की सहजता और रचनाशीलता मुखर हुई है।

वास्तव में एक लंबे समय से सक्रिय रचनात्मकता को सहेज पाना जटिल होता है तथा कोई-न-कोई गुंजाइश बची रह जाती है। मधुरेश के चालीस साल के कालखंड में बिखरी और पसरी सृजनशीलता को 407 पृष्ठों की इस किताब में समेटने का एक महत्त्वपूर्ण व सार्थक काम हुआ है। इस तरह की किताबों की मुश्किल यह होती है कि वह प्रायः प्रशस्तिमूलक एवं स्तुति गायन में तब्दील हो जाती हैं, लेकिन यह समीक्ष्य किताब मधुरेश से सहमत और असहमत दोनों तरह के विचारों का संयोग है। इस लिहाज से यह निष्पक्ष, तटस्थ और विश्वसनीय बन पड़ी है तथा उनका विभिन्न दृष्टियों से मूल्यांकन करती है। इन अर्थों में इसके संपादक प्रदीप सक्सेना का यह कहना काफी हद तक सही है कि, ''यह अभिनंदन ग्रंथ नहीं है।'' इसका पूरा श्रेय निश्चित रूप से प्रदीप सक्सेना के परिपक्व संपादन को जाता है। यह किताब पढ़ने के बाद काफी संतोषप्रद लगता है कि लाख गिरावट के बावजूद बड़े ही गुपचुप तरीके से प्रतिबद्ध और ईमानदार आलोचकों की एक संभावनाशील जमात उठ खड़ी हुई है। उम्मीद है, यह किताब 'आलोचना सदैव एक संभावना' अपना महत्त्व कायम करेगी और आलोचना की साख बनेगी तथा एक नई व जीवंत बहस की बुनियाद धरेगी। प्रदीप सक्सेना का यह ईमानदार और प्रतिबद्ध प्रयास प्रशंसनीय है। यह किताब असहमति के साहस और सहमति के विवेक का सफल संयोजन है।

आलोचना सदैव एक संभावना है/संपादक : प्रदीप सक्सेना/शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य : ` 650

ग्राम-पत्रालय-देवकली से होकर नवानगर, जनपद-बलिया-221717 (उ.प्र.), मो. 07398159483

त्रिकाल दृष्टि

हरदयाल

एक विशेष समाचारपत्र में एक कॉलम के रूप में लिखे गए कैलाश वाजपेयी के लेखों का यह दूसरा संग्रह है। ऐसे ही लेखों का उनका एक और संग्रह 'अनहद' (2006) के नाम से प्रकाशित हुआ था, जिस प्रयोजन के लिए और जिस प्रकार ये लेख लिखे गए एवं प्रकाशित किए गए, उसने इनके आकार को एक सीमा में बांध दिया है। कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी लेख दो-तीन पृष्ठों की सीमा में बंधे हुए हैं; किंतु इनमें विषयवस्तुगत सीमा नहीं है। इनके विषयों का संबंध विज्ञान, दर्शन, धर्म, समाज, अध्यात्म, राजनीति, अर्थनीति आदि तमाम विषयों से है। 'यह सृष्टि एक धारावाहिक है' लेख के नीचे उद्धृत अंश से इस विषयवस्तुगत की विविधता का संकेत स्वयं वाजपेयीजी ने दिया है—

''अगर आदमी का दिमाग अपने आपको पूरे ब्रह्मांड से जुड़ा हुआ मानता है, तो यह हुई समझदारी! इसे कहेंगे ज्ञान और जब यही आदमी इस समस्त प्रपंचजाल के समक्ष स्वयं को पूरी तरह नगण्य मानकर यह स्वीकार करने लग जाता है कि चेतना की एक ही डोर ने सबको बांध रखा है और यह सृष्टि एक धारावाहिक की तरह है, जिसकी पटकथा संभवतः पहले ही लिखी जा चुकी है, जिसमें एक-एक की भूमिका है, जिसे सभी को निभाना ही है तो यह हुआ अध्यात्म। यह नियम क्यों है, इस प्रश्न से दर्शन का जन्म हुआ। यह नियम कैसे कार्य करता है, इस प्रश्न से विज्ञान की शुरुआत हुई। इसके पीछे शायद कोई नियंता होगा। इस स्वीकृति के साथ बोध अथवा धर्म का जन्म हुआ।'' (पृ. 33)

वाजपेयीजी की समीक्ष्य पुस्तक में संग्रहीत लेखों में वे सभी चीजें हैं, जिनका उल्लेख उपर्युक्त उद्धरण में हुआ है। उन्होंने अपने लेखों में वेदों, उपनिषदों, कुर्आनशरीफ, देश-विदेश के विभिन्न संतों, साधना-पद्धतियों, धार्मिक कर्मकांडों, वैज्ञानिकों और उनके अनुसंधानों, विभिन्न दर्शनों, लोकाचारों, स्वाधीनता-आंदोलनों, आयुर्वेद और अन्य चिकित्सा-पद्धतियों आदि तमाम चीजों पर लिखा है। इनमें सूचनाएं भी हैं, विवेचन-विश्लेषण भी है और सूत्रात्मक निष्कर्ष भी हैं। उनकी दृष्टि अतीत, वर्तमान और भविष्य; तीनों कालों पर है। कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि त्रिकाल दृष्टि है। उनकी यह त्रिकाल दृष्टि खंड दृष्टि नहीं है। इसीलिए वे ऐसी चीजों में साम्य खोज लेते हैं, जिसकी सामान्य व्यक्ति को तो छोड़ दीजिए, अच्छे-अच्छे बुद्धिजीवी भी कल्पना नहीं कर सकते।

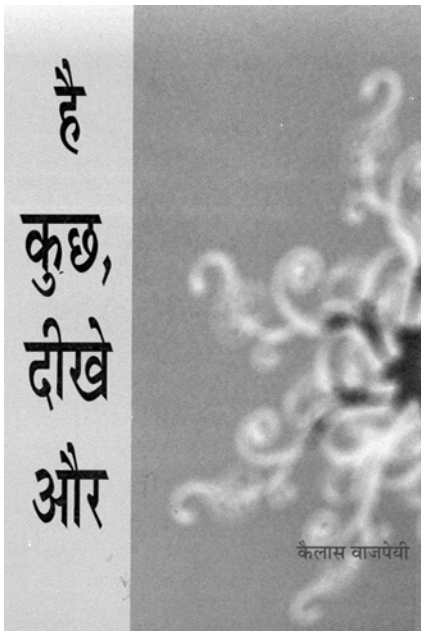

उदाहरण के लिए 'ब्रह्मांड की बंद कोठरी : वैज्ञानिकों की रहस्यभाषा' शीर्षक लेख में एक बिंदु पर पहुंचकर वे वैज्ञानिकों के द्वारा उपाणु और क्वार्क के अर्धव्यक्त संसार को पूरे व्यक्त रूप में पकड़ पाने में असमर्थ वैज्ञानिकों की दुविधा के आधार पर कहते हैं कि ''हम यही भर कह सकते हैं कि वह है भी और नहीं भी है। यहां आते-आते अधुना वैज्ञानिक और पूर्व के उपनिषद्कार की भाषा एक हो जाती है।'' (पृष्ठ 18)

पश्चिम के आधुनिक वैज्ञानिक और पूर्व के उपनिषद्कार की भाषा कैसे एक हो जाती है, यह इस लेख के इस अंतिम अंश में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

''कहीं किसी गहरे स्तर पर ब्रह्मांड का एक-एक खंड पूर्ण है और यह पूर्ण संपूर्ण में इस तरह समाहित है कि सब तरफ पूर्ण ही की सत्ता है। ढाई हजार वर्ष पूर्व ईशावास्योपनिषद् के ऋषि ने भी गाया था, जिसे नए गणित तक पहुंचने में दुनिया भर के वैज्ञानिकों को दो हजार साल लगे हैं, उस समय गणित को पूर्व के ऋषि ने सहज ही गुनगुनाया होगा—

ॐपूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥''
(पृष्ठ 23)

कैलाश वाजपेयी ने भारतीय दार्शनिकों की विभिन्न स्थापनाओं को प्रस्तुत किया है। जैसे, 'दूसरापन और निरंजन' शीर्षक लेख में रामानुजाचार्य की एक स्थापना को इस प्रकार प्रस्तुत किया है, ''रामानुजाचार्य का कहना है कि यदि आप भावरूप अज्ञान को किसी अन्य के माध्यम से प्रमाणित नहीं करेंगे, तब तक आपके कथन में अनंतदोष ही माना जाएगा। ऐसा इसलिए कि दीपक की लौ प्रकाश कर रही है, ऐसा कहने के लिए आंख चाहिए। एक अंधे आदमी की जिंदगी में क्या फर्क पड़ता है कि दीया जला या नहीं जला। रामानुज का मानना है कि अद्वैत जब भी होगा, विशिष्ट ही होगा।'' (पृष्ठ 73)

उन्होंने दार्शनिकों की स्थापनाओं को आधुनिक जीवन और यथार्थ के संदर्भ में भी देखा है। लोकायतों की स्थापनाएं

आधुनिक जीवन-यथार्थ के संदर्भ में कितनी प्रासंगिक हैं, इसे हम उनके इस कथन से समझ सकते हैं, ''लोकायतों का कहना है कि मीमांसक लोग ज्ञानकांड को अप्रमाणिक मानते हैं, जबकि वेदांत कर्मकांड को। इन दोनों के आपस में लड़ने से भला तीसरे का होता है। धूर्तों ने यज्ञादि के बहाने लोगों से पैसा ऐंठने की बड़ी नायाम तरकीब निकाली है। भला यज्ञ करने से किसी को स्वर्ग मिलता है और फिर चूल्हे में आग तो घर में रोज ही जलती रहती है।'' (पृष्ठ 65)

वाजपेयीजी की स्थापना है कि ''भक्ति इस देश की अप्रतिम खोज है। शरीर के तल से ऊपर उठकर आत्मा तथा परमतत्त्व तक जाने की खोज थी—यह भक्ति। ऐसा माना जाता है कि आलवार भक्तों की स्नेह एवं आस्था में डूबी वाणी के कारण ही भक्ति लोगों के आकर्षण का कारण बनी।'' (पृष्ठ 92)

वाजपेयीजी की स्थापना है कि ''भक्ति इस देश की अप्रतिम खोज है। शरीर के तल से ऊपर उठकर आत्मा तथा परमतत्त्व तक जाने की खोज थी—यह भक्ति। ऐसा माना जाता है कि आलवार भक्तों की स्नेह एवं आस्था में डूबी वाणी के कारण ही भक्ति लोगों के आकर्षण का कारण बनी।'' (पृष्ठ 92)

वाजपेयीजी का रुझान अध्यात्म और योग की ओर भी है। उनके लेखों में कई स्थानों पर इसकी अभिव्यक्ति हुई है। रूसी रहस्यवादी संत गुर्जिएफ पर लिखते हुए उन्होंने नाभिकेंद्र के महत्त्व को रेखांकित किया है, ''गुर्जिएफ की ध्यान-पद्धति की नकल यहां के बाबाओं ने भी की है—जैसे, यह विचार गुर्जिएफ का है कि जोर से हू हू करो अथवा फूत्कार फेंको। अब पता चला है कि ऐसा करने से नाभि-चक्र आंदोलित होता है, यानी जो प्रभाव ॐ कहने का होता है, वह हू हू करके भी पाया जा सकता है। इसी तरह जापान में एक मास्टर हुआ ओसो, जिसकी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए दस ओसो और हुए। ओसो अपने शिष्यों को आधा घंटे तक धरती पर लोटपोट होने के लिए कहता; फिर घुटनों के बल उसी तरह बैठ जाओ जैसे सांप बैठता है; फिर फूत्कार छोड़ो। शिष्य जैसे ही ऐसा करते, उन्हें लगता, वे 'सटोरी या हाल' की दशा में जा रहे हैं।'' (पृष्ठ 82) 'वास्तुपुरुष' की चर्चा के प्रसंग में उन्होंने नाभिकेंद्र का महत्त्व प्रतिपादित किया है और 'नाभिदर्शन' के फैशन की आलोचना की है, ''...इस पूरे रूपक को यदि अपनी देह पर आरोपित करें तो पाएंगे कि नाभिकेंद्र के समांतर ही ध्वजपुरुष की स्थिति है। नाभि बिंदु को हम 'हिरण्य पुरुष' भी कहते हैं। नाद का विस्फोट भी नाभिकेंद्र से ही होता है। प्राचीन धारणा के अनुसार हमें निरंतर अपने नाभिकेंद्र का स्पर्श भी करते रहना चाहिए। वर्तमान समय में यह जो 'नाभि दर्शन' एक फैशन की तरह सर्व स्वीकृत हो गया, इसे हम नैतिक अथवा अनैतिक न भी कहें, तब भी नाभिकेंद्र जैसे दिव्य अमृतकुंड का इतना अधिक प्रदर्शन न केवल रोगोत्पादक है वरन् आयु को भी क्षीण करता है। इसे ढककर रखने के पीछे गहरे अतिमनोवैज्ञानिक कारण थे, जो अंततः वास्तुपुरुष की संकल्पना से जुड़ते हैं।'' (पृष्ठ 79)

कैलाश वाजपेयी जहां अतीत के तमाम

प्रसंगों, स्थापनाओं, प्रचलनों आदि का परिचय देते हैं, उनकी व्याख्या करते हैं, वहीं उन्हें वर्तमान से भी जोड़ते हैं। 'समय ही आत्मा है' शीर्षक लेख में उन्होंने महावीर स्वामी की मान्यताओं की चर्चा की है और उसे आधुनिक यथार्थ से जोड़ा है, ''सत्य को पाने के लिए जहां महावीर ब्रह्मचर्य और अचौर्य को महत्त्व देते हैं, वहीं वे शुरू में ही बता देते हैं कि संग्रह या परिग्रह बहुत बड़ी बीमारी है। इसलिए कि संग्रह की प्रवृत्ति में फंसा आदमी धन के लिए ही धन एकत्रित करता चला जाता है। लगभग कुछ ऐसे ही शब्द कार्ल मार्क्स ने पूंजी के लिए कहे थे—मनी वर्क्स लाइव ब्लैक मैजिक इन द हार्ट ऑफ ऐलिएनेटेड प्रॉफिटयर।'' (पृष्ठ 148)

धन के लिए धन का संग्रह आज के उत्तरपूंजीवाद का यथार्थ है और भ्रष्टाचार की जड़ है। व्यक्ति चाहे अपने जीवन में अपने लिए या अपनों के लिए संगृहीत धन का कोई उपयोग न पाए, लेकिन लोभवश धन का संग्रह किया जाता है। असल में भौतिक विकास मनुष्य की अतर्क्य लालसा का ऐसा व्यावहारिक रूप है, जो प्रकृति का विनाश कर रहा है। वाजपेयीजी ने 'कूड़ाघर में तब्दील होता ब्रह्मांड' शीर्षक लेख में इस प्रवृत्ति की आलोचना की है।

'है कुछ, दीखे कुछ और' के लेखों में वाजपेयीजी ने इतने विषयों को लिया है कि उन सबकी चर्चा करना यहां संभव नहीं है। कुछ विषयों की उपर्युक्त चर्चा से उनकी ओर संकेत हो गया है और जिज्ञासु पाठक इस संकेत से इस लेख-संग्रह को पढ़ने को उत्सुक होंगे। हम वाजपेयीजी की जिज्ञासावृत्ति, उनकी अध्ययनशीलता, उनकी तीक्ष्ण बौद्धिकता और आस्था, उनकी विश्लेषण क्षमता और अपनी बात को सीमित शब्दों में व्यक्त करने की क्षमता की दाद दिए बिना नहीं रह सकते।

है कुछ, दीखे कुछ और/कैलाश वाजपेयी/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ` 200

एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, दिल्ली-110094, मो. 9871328263

एक आलोचक के विविध आयाम

सुधांशु शेखर

तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार) में हिंदी के प्राध्यापक सह गांधीवादी आलोचक डॉ. श्रीभगवान सिंह ने अपने आलोचनात्मक लेखन से समकालीन साहित्यिक आलोचना और परिदृश्य पर एक अलग लकीर खींची है। लगभग सांप्रदायिक और विचाररूढ़ हो उठी आलोचना के बरक्स ये एक स्वतंत्र वैचारिक आधार और जातीय दृष्टि लेकर आए हैं। इन्होंने विशेष रूप से गतिशील राष्ट्रीय जीवन-प्रवाह और गांधी-युग के मूल्यों को केंद्र में रखकर एक स्वाधीन आलोचनात्मक तेवर प्रदर्शित और रेखांकित किया है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए इन्हें 'प्रथम प्रमोद वर्मा स्मृति आलोचना सम्मान-2009' से नवाजा गया। साथ ही 'प्रमोद वर्मा' स्मृति-संस्थान के अध्यक्ष विश्वरंजन ने इनके कृतित्त्व एवं व्यक्तित्व को केंद्र में रखकर एक पुस्तक का भी संपादन किया है, जिसका नाम है 'घेरे से बाहर पृथ्वी'। पुस्तक के सातों भागों, यथा—'आलोचना विवेचना', 'नाटक', 'समीक्षाएं', 'संस्मरण', 'साक्षात्कार', 'कुछ महत्त्वपूर्ण पत्र' और 'चित्रावली' में डॉ. सिंह के लेखन एवं जीवन के विविध आयामों का सुमधुर समावेश है।

पुस्तक के प्रथम भाग में डॉ. श्रीभगवान सिंह के कुल 14 आलोचनात्मक निबंध संकलित हैं। इन निबंधों में साहित्य की भारतीय परंपरा के आलोक में समकालीन साहित्यिक आलोचना को नई दिशा देने की कोशिश की गई है। इस कोशिश में विशेष रूप से पश्चिमी अलगाववाद एवं भोगवाद के बरक्स भारतीय सभ्यता—संस्कृति के संयमप्रधान एवं समन्वयवादी मूल्यों की स्थापना का आग्रह नज़र आता है। जैसा कि प्रथम आलेख 'साहित्य की भारतीय परंपरा' में डॉ. सिंह ने लिखा है, ''जैसे सूर्य और चांद का, दिन और रात का होना शब्दों की बाजीगरी से झुठलाया नहीं जा सकता, वैसे ही भारतीय संस्कृति और साहित्य के समन्वयात्मक-सामासिक स्वरूप को नहीं झुठलाया जा सकता है।'' (पृ. 29) आगे भारतीय सभ्यता-संस्कृति की इसी सामासिकता को वे कबीर और तुलसी के चिंतन में भी देखते हैं और दोनों को एक-दूसरे का पूरक बताते हैं। अपने निबंध 'कबीर और तुलसी : पूरक या विरोधी' में उन्होंने लिखा है, ''भले ही तुलसी की भाषा में कबीर जैसी आक्रामकता, तीक्ष्णता नहीं है, किंतु इतना तय है कि एक अवस्था में पहुंचकर तुलसी भी जाति-पांति की निरर्थकता को बेनकाब करने में कबीर से पीछे नहीं हैं।'' (पृ. 116) इसलिए डॉ. सिंह वैसे तथाकथित अनपढ़े आलोचकों का कड़ा प्रतिवाद करते हैं, जिन्हें तुलसी-साहित्य सहित संपूर्ण भारतीय

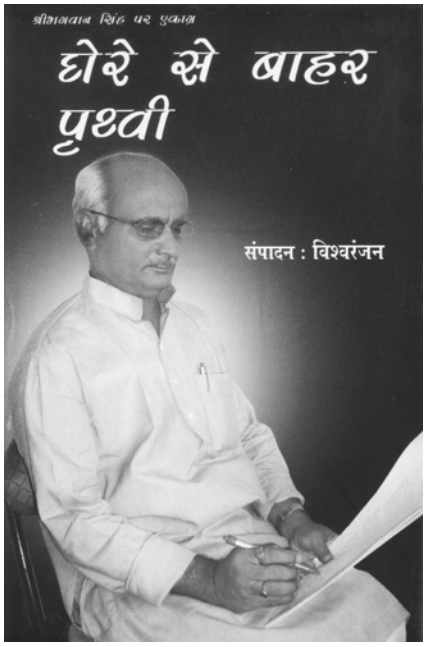

वाङ्मय में सिर्फ 'कूड़ा-कचरा' ही नज़र आता है।

जाहिर है कि डॉ. सिंह का आलोचनात्मक कर्म उपनिवेशवादी बौद्धिकता से मुक्ति और भारतीय मूल्यों की पुनर्स्थापना के आदर्शों से परिचालित नजर आता है। इसी आदर्श को केंद्र में रखकर वे समकालीन विमर्शों का भी मूल्यांकन करते हैं। जैसा कि अपने एक आलेख 'साहित्य रति-बंधों का अलबम तो नहीं' में उन्होंने लिखा है, ''स्त्री-पुरुष संबंधों में जो भी असमानता आई हो, नारी-उत्पीड़न एवं यौन-शोषण संबंधी जो भी मान्यताएं स्थापित की गई हों, विवाह संस्था में जो भी अमानवीयता की हद तक बुराइयां आई हों; उनका परिमार्जन करना, उनके विरुद्ध स्वस्थ सोच एवं चेतना का विकास करना साहित्य का अनिवार्यतः उद्देश्य होना चाहिए, किंतु जो काम कोकशास्त्र करे, ब्लू फिल्में करें, उसे तो साहित्य को हर्गिज नहीं करना चाहिए।'' (पृ. 72-73) इस तरह डॉ. सिंह स्त्री-विमर्श को यौन-विमर्श का पर्याय बनाने का विरोध करते हैं। उनकी यही सामासिक-दृष्टि दलित-विमर्श को लेकर भी सामने आती है, जहां वे दलित शब्द का अर्थविस्तार करते हुए इसके घेरे में न केवल अछूतों, वरन् तमाम शोषितों-पीड़ितों को ले आते हैं। उनके शब्दों में, ''वास्तव में पहले भी और आज भी सामंती उत्पीड़न हो या साम्राज्यवादी-पूंजीवादी उत्पीड़न-शोषण हो, इनके शिकार सभी व्यक्ति एवं राष्ट्र दलित हैं और इनके पक्ष में लिखा जाने वाला साहित्य दलित-साहित्य है। (अगर साहित्य के साथ दलित विशेषण लगाना आवश्यक है।)'' (पृ. 79)

द्वितीय खंड में डॉ. सिंह के दो नाटक क्रमशः 'शकुंतला का द्रोह' और 'चुनाव-प्रदेश' संकलित हैं। इनके जरिए भी उनकी गांधीवादी-दृष्टि सामने आती है। मसलन, 'शकुंतला का द्रोह' में लेखक ने शकुंतला को प्रकृति-संरक्षण के लिए राजसत्ता एवं पुरुषवाद से द्रोह करती हुई एक दृढ़ निश्चयी वनकन्या के रूप में चित्रित किया है। मसलन, नाटक के द्वितीय दृश्य में एक जगह शकुंतला उत्तेजित होकर कहती है, ''वाह रे महाराजा...सचमुच, मनुष्य में कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं। शकुंतला का प्यार पाने के लिए कितना विनीत समर्पित जीव बन गया था यह व्यक्ति, किंतु राजपद के प्रभाव में सब कुछ भूल गया! राजमुकुट का ऐसा चमत्कार!...पर मैं भी इस राजमद का प्रतिवाद करूंगी, उसका परिणाम जो भी हो।'' (पृ. 270) इस तरह शकुंतला प्रकृति-संरक्षण से जुड़े मुद्दे पर राजमद का प्रतिवाद कर अपने पिता कण्व ऋषि के आश्रम में लौट जाती है। बाद में राजा दुष्यंत को अपनी गलती का एहसास होता है और वे शकुंतला के द्रोह का अभिनंदन करते हैं। (पृ. 286) साथ ही व्यक्तिगत और राजकीय स्तर पर भी प्रकृति-पर्यावरण के प्रति सम्मान एवं मैत्री का आचरण अपनाते हैं। इस तरह लेखक ने बड़ी कुशलतापूर्वक एक मिथकीय कथा को प्रकृति-पर्यावरण संरक्षण के सर्वकालिक आदर्श से जोड़कर समसामयिक संदर्भों में भी प्रासंगिक बना दिया है।

दूसरा नाटक 'चुनाव-प्रदेश' भी समसामयिक संदर्भों से गहरे जुड़ा है। इसमें लेखक ने संसदीय लोकतंत्र की विकृतियों, यथा—धनबल, बाहुबल, जातिवाद, अपराधीकरण, सिद्धांतविहीनता आदि पर करारा प्रहार किया है। इस क्रम में लेखक की व्यंग्योक्तियां काफी प्रभावकारी बन पड़ी हैं। उदाहरण के लिए राजनीति में नैतिकता के ह्रास को रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा है, ''अरे भाई, आप समझते क्यों नहीं! सद्गुणों का दस्तावेज बनाकर हमें उसका पारायण तो नहीं करना है, न ही अपने पार्टी कार्यालय को सद्गुणों का संग्रहालय बनाना है। इस सच को स्वीकार क्यों नहीं करते कि चुनाव लड़ना आप जैसे शाकाहारियों के वश की बात नहीं! ... चुनाव क्षेत्र तो वह दंगल क्षेत्र है, जहां शेर जैसी ताकत और लोमड़ी जैसी चालाकी रखने वाले ही पार पा सकते हैं।'' (पृ. 304)

अगले खंड में डॉ. सिंह की कृतियों, यथा—'आधुनिकता और तुलसीदास', 'गांधी और दलित भारत जागरण', 'आलोचना के मुक्त वातायन' और 'समय संवाद' की समकालीन आलोचकों द्वारा की गई समीक्षाओं को स्थान दिया गया है।

यहां गौरतलब है कि डॉ. सिंह की उल्लेखित कृतियां अलग-अलग समय में प्रकाशित हुई हैं, इसलिए उनके विषयों एवं संदर्भों में भिन्नता एवं विविधता स्वाभाविक है, लेकिन इसके बावजूद एक खास बात यह है कि कमोबेश सभी कृतियां गांधी-दृष्टि से लैस हैं और सबों में जीवन एवं जगत की क्रूर सच्चाइयों से सामना होता है। ऐसा लगता है कि इन कृतियों के माध्यम से लेखक ने समकालीन विमर्शों में जरूरी हस्तक्षेप किया है और कई समसामयिक चुनौतियों का सहज विकल्प भी सुझाने का प्रयास किया है। इन्हीं विशेषताओं के कारण लेखक की प्रायः सभी कृतियों को बौद्धिक जगत में काफी सराहना एवं स्वीकृति मिली है। इस खंड में संकलित समीक्षाएं, यथा—'तुलसीदास पर बहस' (अशोक वाजपेयी), 'विचारों के घटाटोप में देसी आधुनिकता की खोज' (डॉ. ऋषिकेश राय), 'तुलसी की प्रासंगिकता का निरूपण' (ज्योतिष जोशी), 'आलोचना में गांधीवाद की दूसरी वापसी' (विनोद शाही), 'गांधी—दलित विमर्श के व्यापक आयाम' (वीरेंद्र कुमार बरनवाल), 'मताग्रही आलोचना से बचने की जरूरत' (गंगाप्रसाद विमल), 'वादग्रस्तता से मुक्ति के

पक्ष में' (डॉ किरण सिंह), 'समग्रता को रेखांकित करती समीक्षा-दृष्टि' (डॉ. ऋषिकेश राय) आदि इस बात की सशक्त गवाह हैं।

यहां यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि डॉ. सिंह साहित्य के साथ-साथ राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र और दर्शन की भी अच्छी समझ रखते हैं और उनका आलोचना-कर्म या लेखन भी गहरे रूप से इन साहित्येतर विधाओं से प्रभावित है। यही कारण है कि वे बार-बार अपने को गांधी, लोहिया और धर्मपाल जैसे दार्शनिकों के करीब पाते हैं। इतना ही नहीं, इन्हीं दार्शनिकों की तरह अपने चिंतन एवं विचार को अपने कर्म एवं जीवन में उतारने की जिद भी डॉ. सिंह में मौजूद है। इस पुस्तक के चतुर्थ खंड में संकलित संस्मरणों में यह बात ज्यादा खुलकर सामने आई है।

प्रथम संस्मरण वरिष्ठ पत्रकार डॉ. सूर्यनाथ का है, 'देसी ठाठ का रचनाकार'। इसमें डॉ. सिंह की वैचारिकी के साथ-साथ जीवनशैली में भी समाए ठेठ देशजपन को बखूबी सामने लाया गया है। सचमुच जब विचार और कर्म दोनों में एकरूपता होती है, तो वह बड़े गहरे तक असर करता है, यही बात डॉ. सिंह पर लागू होती है। इस संस्मरण के लेखक ने बिल्कुल ठीक लिखा है, ''...श्रीभगवान सिंह जैसा रचनाकार जब ठेठ भारतीय अंदाज में तनकर खड़ा होता है, तो न सिर्फ हैरान करता, बल्कि अपनी अक्खड़ता से आकर्षित भी करता है।...यह आदमी खांटी है। कोई मिलावट नहीं। कोल्हू से निकले सरसों के तेल की गंध जैसा।'' (पृ. 399-400) इसी तरह दूसरे संस्मरण 'व्यक्ति के रूप में आंदोलन' में युवा पत्रकार दिनेश कुमार ने रेखांकित किया है कि डॉ. सिंह की बौद्धिक सक्रियता को देखकर आश्चर्य होता है। वे साहित्य सहित किसी भी क्षेत्र में भारतीय जीवन-मूल्यों पर हो रहे आघातों के जवाब देने के लिए हर मोर्चे पर खड़े दिखाई देते हैं। (पृ. 405) शायद इसी खूबी को देखते हुए युवा आलोचक अश्विनी कुमार ने अपने आलेख 'जिनका मैं कायल हूं' में लिखा है, ''श्रीभगवान सिंह को केवल गांधी के पाले में डालकर छुट्टी नहीं पाई जा सकती।...उनके कामों पर विचार करें, तो वे शुद्ध भारतीय जीवन, शील और शैली के पक्षधरों की कतार में हैं।'' (पृ. 406) यहां गौरतलब है कि भारतीय परंपरा में शिक्षक को आचार्य अर्थात्, आचरण से शिक्षा देने वाला कहा गया है। इस बात को भी डॉ. सिंह ने अपने जीवन में उतारा है। यह उनकी छात्रा रश्मि रानी के आलेख 'वे पढ़ाने से अधिक सिखाते हैं' (पृ. 410-412) को पढ़ते हुए स्पष्टतः महसूस होता है।

पांचवें खंड में डॉ. सिंह से लिए गए दो साक्षात्कार संकलित हैं। इनके माध्यम से साक्षात्कारकर्ता वंदना केंगरानी और जयप्रकाश मानस ने साहित्य एवं समाज के कई महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर डॉ. सिंह के बेबाक विचारों को सामने लाने में सफलता पाई है।

मसलन, वंदना से बातचीत में डॉ. सिंह ने साफ-साफ कहा है, ''रचनाकारों में जिन्हें प्रसिद्धि की भूख है और जल्द-से-जल्द चाहते हैं कि रातों रात हम प्रसिद्धि पा जाएं, बड़े आलोचक लिख दें, ये कर दें, वो कर दें, वो सच्चे रचनाकार नहीं हैं। सच्चा रचनाकार साधना करता है, कहीं भी बैठकर। पाठक समाज उस रचना को पढ़ेंगे और तय करेंगे कि रचना कैसी है।'' (पृ. 423) इससे साफ जाहिर होता है कि डॉ. सिंह मात्र प्रसिद्धि या स्वांतः सुखाय लेखन करने वालों के पक्ष में नहीं हैं, वरन् वे साहित्य को सामाजिक सरोकारों से जोड़े रखना चाहते हैं। यह बात दूसरे साक्षात्कारकर्ता जयप्रकाश से बातचीत में और स्पष्ट होती है, जहां डॉ. सिंह इस बात पर जोर देते हैं कि हर लेखक के लिए लेखन आत्मपरिष्कार तथा आत्माभिव्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक हित को साधने वाला होना चाहिए। वे बेबाक टिप्पणी करते हैं, ''समाज या लोक निरपेक्ष आनंद रचना को कमजोर कर चलताऊ किस्म का ही बनाएगा।'' (पृ. 431)

छठे खंड में साहित्य, राजनीति, शिक्षा आदि विभिन्न क्षेत्रों की जानी-मानी हस्तियों द्वारा डॉ. सिंह को लिखे गए 41 पत्र संकलित हैं। इन पत्रों से उनके जीवन एवं चिंतन के कई अनछुए पहलुओं पर रोशनी पड़ती है। साथ ही उनके व्यापक संपर्कों की भी झलक मिलती है, जिसके घेरे में पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर, वरिष्ठ साहित्यकार नेमिचंद्र जैन एवं भीष्म साहनी, वरिष्ठ आलोचक नामवर सिंह एवं डॉ. विजय बहादुर सिंह, श्रीलाल शुक्ल, रमेशचंद्र शाह, रविभूषण, ज्ञानरंजन, ओम थानवी, रामधारी सिंह 'दिवाकर', डोमन साहु समीर सहित कई महत्त्वपूर्ण हस्तियां शामिल हैं।

सातवें खंड में 16 चित्र संकलित हैं, जिनमें डॉ. सिंह के व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व की चमक नजर आती है और एक तरह से उनका पूरा वैयक्तिक एवं साहित्यिक परिवार प्रतिबिंबित होता है। साथ ही इससे उनके ठेठ देसी अंदाज और सतत लेखकीय उपक्रम को समझने में भी मदद मिलती है।

कुल मिलाकर, 'घेरे से बाहर पृथ्वी' किसी भी समकालीन आलोचक पर एकाग्र पुस्तकों में अग्रगण्य है। इसके जरिए एक मतवादरहित आलोचक के जीवन-दर्शन के विविध आयामों को सामने लाने का सार्थक प्रयास किया गया है। पुस्तक की सामग्री के चयन, संयोजन एवं संपादन में गहन अनुभव एवं तीक्ष्ण दृष्टि की स्पष्ट झलक मिलती है। इसकी आंतरिक सामग्रियां मन-मस्तिष्क को वैचारिक खुराक प्रदान करती हैं और इसका बाह्य कलेवर आंखों को सुकून देता है।

घेरे से बाहर पृथ्वी (श्री भगवान सिंह पर समग्र)/संपादक : विश्वरंजन/प्रमोद वर्मा स्मृति संस्थान, रायपुर (छत्तीसगढ़)/भारती प्रकाशन, 69, शाहपुर जट, नई दिल्ली-110049/मूल्य : ` 850

केशव सिंह लॉज, लालकोठी, भागलपुर-812007 (बिहार), मो. 09934629245, ई-मेल : sudhan.ph@gmail.com

---

स्त्री, समकाल और कविता

रामशंकर द्विवेदी

केरल की प्रमीला के.पी. दक्षिण के उन लेखकों में हैं, जिन्होंने हिंदी-लेखन में अपनी उपस्थिति काफी परिश्रम और लगन के साथ दर्ज कराई है। ए. अरविंदाक्षन, ए. शौरिराजन तथा बालशौरि रेड्डी जैसे अनेक लेखक हैं, जिन्होंने अपनी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के लिए हिंदी को केंद्र में रखा है। इनकी सर्जना और लेखन से प्रवासी साहित्यकारों की तरह हिंदी गद्य को नयी भंगिमा और नया तेवर मिला। हालांकि हिंदी के सहज लेखन की दृष्टि से इनके गद्य में थोड़ा अटपटापन जरूर रहता है।

समीक्ष्य पुस्तक 'स्त्री अस्मिता और समकालीन कविता' में प्रमीला के.पी. के बारह लेख संगृहीत हैं। इन लेखों के केंद्र में तो समकालीन कविता है और परिधि में स्त्री अस्मिता, पर्यावरण, भूमंडलीकरण, स्त्री कविता, आज के सवाल, कविता की वापसी, उसका वर्तमान, अज्ञेय और अरुण कमल की कविता आदि को विश्लेषण के लिए चुना गया है।

छपने की सुविधा होने से आज सब कुछ छप जाता है और पुस्तकों के शीर्षक ऐसे रखे जाते हैं, जैसे लेखक कोई बड़ी बात कहना चाहता है। प्रमीला की इस पुस्तक के सभी आलेखों का स्वर अकादमिक है। लेखक कोई विषय उठाता है, फिर कविता के सहारे उसी विषय का विवेचन करता है। खांचों में बांधकर धीरे-धीरे उसकी विचार सरणि अपने लिए प्रमाण जुटाती हुई अग्रसर होती है। समीक्षा में जब तक स्वतंत्र दृष्टि और कायदे से बात कहने का अंदाज न हो, तब तक ऐसा लेखन प्राध्यापकीय लेखन बनकर रह जाता है। आजकल वातावरण में, जो प्रश्न फैशन की तरह तैरते रहते हैं, उन्हीं को केंद्र बनाकर इस तरह का लेखन प्रभूत मात्रा में किया जा रहा है। प्रायः यूजीसी द्वारा आयोजित गोष्ठियों में इसी तरह के लेखन को तरजीह दी जा रही है।

प्रमीला के इन आलेखों में कहीं-कहीं स्वतंत्र दृष्टि और कुछ नया कहने की दीप्ति झलक जाती है।

प्रमीला की दृष्टि में ''कविता की झोली में इस दुनिया के लिए जितने कार्य हैं, वे हमेशा किसी भी सजग पाठक को हैरान करने वाले हैं। मनुष्य के जीवन के लिए जो अपेक्षाएं जरूरी हैं, उनको लेकर कविता बयान देती है तो जीवन की तलस्पर्शी सच्चाइयों का अहसास हमें उद्वेलित करता है।'' उनकी दृष्टि में अक्षर हमें गढ़ता है, इसलिए जो व्यक्ति अर्थवान अक्षरों के सम्मुख खड़ा होता है, उसे वे भाग्यवान समझती हैं।'' पर इस पुस्तक में संकलित आलेख ढर्रे के आलेख हैं।

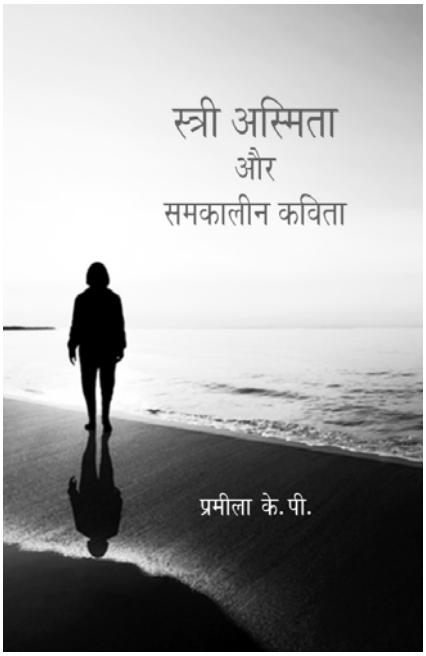

इस पुस्तक का शीर्षक जिस आलेख 'स्त्री अस्मिता और समकालीन कविता' के आधार पर चुना गया है, वह छोटे-छोटे ग्यारह बिंदुओं में विभाजित है। इसलिए इस आलेख का विवेचन किसी एक बिंदु पर केंद्रित नहीं होता है। स्त्री तथा स्त्रीवादी कविता पर इन्हीं बिंदुओं की दृष्टि से विचार किया गया है। कविता के केंद्र में लेखिका की समाजोन्मुखी चेतना है। वह कविता को समकालीन स्त्री चेतना की मुखर अभिव्यक्ति मानती हैं। इस आलेख में विवेचन कम, बयानबाजी अधिक है, अतः न समकालीन कविता के सभी तेवर उभर पाते हैं, न स्त्रीवादी कविता के मुख्य सरोकार।

अपने दूसरे आलेख में प्रमीला ने दिनकर के 'उर्वशी' काव्य को केंद्र बनाकर स्त्री की अस्मिता, उसकी देह, सौंदर्यबोध, उसके मातृरूप की सत्ता, पुरुष का उस पर वर्चस्व आदि पर विचार किया है तो अपने अगले आलेख 'समकालीन स्त्री कविता' में स्त्री कविताओं के कितने रूप हो सकते हैं, उसके विवेचन के बाद उसका कहना है, ''स्त्री कविता का कोई स्थायी अहंवाद नहीं, वह कभी अतिशय वैचारिक है, कभी वह अस्मिता संकट की गहराइयों में गोता लगाती है, कभी वर्गोन्मुख चेतना में भड़क उठती है, तो कभी स्त्री के दोहरे दर्जे पर सवाल उठाती है। हां, अपने आवेगों के बाद कभी वह शांत-मंथर भी हो जाती है। आप उसे इन्सानी जीवन के बाहरी और भीतरी जगत के गवाह मान सकते हैं (वही, पृष्ठ 45)।

अन्य आलेखों में 'कविता के सवाल', 'पारिस्थितिकी और आज की कविता',

'भूमंडलीय भंवर की कविता', 'अरुण कमल की कवि दृष्टि', 'अज्ञेय की कविता में पारिस्थितिकी', 'कविता की वापसी', 'कविता का वर्तमान', 'हिंदी और मलयालम की स्त्री कविता' तथा अंतिम आलेख 'लिव इन और लिव आउट' है। इस पुस्तक में इन आलेखों के माध्यम से कविता और समकाल में तैरते सवालों पर सरसरी दृष्टि से विचार किया गया है। इस पुस्तक में इन आलेखों के माध्यम से कविता और समकाल में तैरते सवालों पर सरसरी दृष्टि से विचार किया गया है। इस पुस्तक के सभी आलेखों का गद्य अटपटा और बेतरतीब है। आलेखों के केंद्र में कोई एक विचार न होकर अनेक विचारों का जमघट है। लेखिका की चेतना एक साथ अनेक बिंदुओं का स्पर्श कर बढ़ना चाहती है, इसलिए इसके आलेखों में अन्विति और एकात्मता का अभाव है। हिंदी में आलेखों की प्रकृति जब तक विचारपरक न हो, तब तक उनका कोई 'टोटल' प्रभाव निष्पन्न नहीं होता है। कभी-कभी ऐसा प्रश्न पूछने का मन होता है कि आखिर कोई पुस्तक लेखक क्यों छपवाता है और प्रकाशक ही उसे क्यों छापता है। पुस्तक पाठकों को संबोधित होती है। इसमें संदेह है कि पाठक इसे पढ़ेंगे। पठनीयता के लिए विचारसरणि का युक्तियुक्त, किसी समस्या को उठाना, फिर उसका पूरा समाधान खोजना। गद्य में विन्यास और क्रमिक चिंतन उसे पठनीय बनाता है। आज ऐसा बहुत-सा गद्य लिखा जा रहा है, जिसमें पठनीयता का अभाव है। अच्छा, तराशा हुआ गद्य लिखना बड़ी मेहनत और अभ्यास से आता है, इस दृष्टि से प्रमीला को अपने लेखन पर विचार करना चाहिए। इस संदर्भ में ए. अरविंदाक्षन से बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

स्त्री अस्मिता और समकालीन कविता/प्रमीला के. पी./सामयिक बुक्स, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 200

1260, नया रामनगर, पाठक का बगीचा, उरई-285001, मो. 09839617349

स्त्री-विमर्श : भारतीय परिप्रेक्ष्य

धीरज कुमार मिश्रा

भारतीय समाज, राजनीति, संस्कृति आदि प्रायः सभी क्षेत्रों में नारी की स्थिति सदैव प्रासंगिक रही है। लगभग सभी क्षेत्रों में नारी एवं नारी संपृक्त संसार के मुद्दे गंभीर विमर्श की विषय-वस्तु रहे हैं। संस्कृति एवं उससे संपृक्त साहित्य का क्षेत्र नारी-विमर्श या स्त्री-विमर्श की गंभीर अभिव्यक्ति के साथ उपस्थित रहा है। समकालीन समाज में नारी-विमर्श को पश्चिम से आयातित विमर्श के रूप में लिया जाता है।

बारह अध्यायों में विभाजित 'स्त्री विमर्श : भारतीय परिप्रेक्ष्य' पुस्तक 'नारी की स्वतंत्र चेतना का भारत में विकास' से प्रारंभ होकर 'भारतीय नारीवाद' की अवधारणा पर समाप्त होती है। प्रारंभ एवं अंत के अध्यायों का शीर्षक ही यह स्पष्ट कर देता है कि पूरी पुस्तक अपने भीतर किन परिप्रेक्ष्यों को समाविष्ट किए हुए होगी। स्त्री-विमर्श की ज्यादा उपादेयता साहित्य के क्षेत्र में है। स्वाभाविक रूप से डॉ. के. एम. मालती की पुस्तक का विधान भी साहित्य के परकोटों पर हुआ है। प्रथम एवं अंतिम अध्याय के बीच क्रमशः भारतीय नवजागरण एवं स्त्री का पक्ष, स्त्री-विमर्श के दो विशिष्ट स्वर, स्त्री मुक्ति आंदोलन भारत में, स्त्री का यथार्थ समकालीन हिंदी महिला उपन्यासकारों का संदर्भ, सामाजिक सरोकार और समकालीन हिंदी महिला उपन्यासकार, मलयालम उपन्यास साहित्य एवं सामाजिक प्रतिबद्धता नवजागरण, इंदुलेखा एवं स्त्री-विमर्श, स्त्री-मुक्ति आंदोलन एवं गांधी जी का प्रभाव, स्त्री-विमर्श समकालीन मलयालम महिला उपन्यासकारों का संदर्भ, समकालीन हिंदी एवं मलयालम कहानी स्त्री-विमर्श के संदर्भ में; नाम से है।

पुस्तक का पहला अध्याय उत्तर-वैदिककालीन समाज में नारी की स्थिति एवं तत्कालीन स्वतंत्रचेता स्त्रियों की तार्किकता का परिचय प्रदान करता है। डॉ. के. एम. मालती अपने विश्लेषण-संश्लेषण की विवेक-शीलता का परिचय प्रदान करते हुए कहती हैं, ''उपनिषद् काल की गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषियों के बारे में जो उल्लेख प्राप्त होता है, उससे स्पष्ट है कि अनेक दार्शनिक समस्याओं पर भी स्त्रियों ने गहन चिंतन किया था।''

औपनिषदिक काल से आगे बढ़ते हुए निगम परंपरा की ओर भी लेखिका का ध्यान जाता है। उनका स्पष्ट कहना है कि थेरीगाथा नारी स्वतंत्रता को प्रकट करने वाला दस्तावेज है। तमाम कथाओं को विश्लेषित करते हुए वे अपना मत प्रतिपादित करती हैं कि नारी-मुक्ति का तीखा स्वर इन गाथाओं में देखने को मिलता है। इसी अध्याय में वे बड़ी कुशलता के साथ 'भक्ति आंदोलन' की मर्यादा में नारी

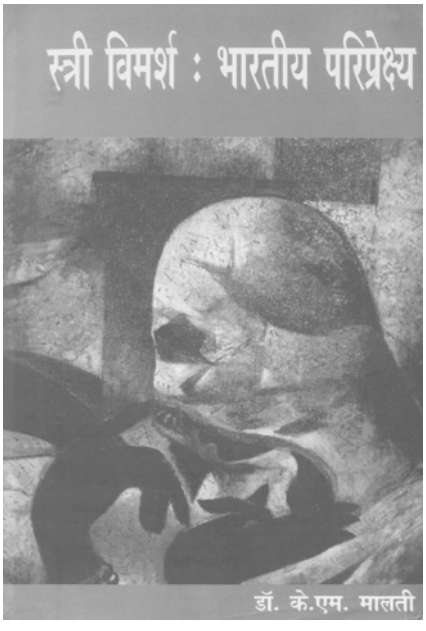

की स्थिति का 'निरूपण' करती हैं। इसी क्रम में दक्षिण भारत की लोक-परंपरा में स्त्री स्वतंत्र चेतना एवं स्त्री चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले व्यक्तित्वों का भी विश्लेषण सामने आता है। आंडाल, मार्गषी का सामूहिक त्योहार, तरुप्पावै, नाच्चियार, तिरुमोली, अक्कमहादेवी, महाराष्ट्र की संत महिलाओं का योगदान, मीराबाई, लोकमाता अहिल्याबाई आदि व्यक्तित्वों के योगदानों को सामने लाती है। अध्याय का वाचन करते हुए यह बात स्पष्ट होती चली जाती है कि तत्कालीन दौर में आंडाल, मीरा, अक्कमहादेवी के समान ही मार्गषी, तरुप्पावै, नाच्चियार तिरुमोली आदि का भी अनन्य स्थान है। इसी अध्याय का आस्वादन लेते हुए यह समझ पाना अधिक मुश्किल नहीं हो पाता है कि पुस्तक लिखने वाले के पास चीजों की गहराई को पकड़ने की अद्‌भुत क्षमता है। पुरुष वर्चस्वशाली मानसिकता का प्रतिनिधित्व करने वाला राजा कौशिक एवं अक्कमहादेवी की स्वातंत्र्य चेतना के बीच होने वाले संघर्ष से दिगंबरा महादेवी का केशांबरा में परिवर्तन हो जाता है। वास्तव में अक्कमहादेवी का परिवर्तन पुरुष वर्चस्व वाले समाज के प्रति विद्रोह है। अक्कमहादेवी की चेतना एवं तार्किकता के प्रति लोगों का इतना रुझान है कि वर्तमान में भी कर्नाटक के लोग उनके नाम का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप में किया करते हैं। डॉ. मालती की नजर इस पक्ष को भी देखती है। वे अपनी विश्लेषणात्मक विवेचना में ही प्रतिपादित करती हैं कि, ''कर्नाटक के देहातों में, शहरों में 'अक्कनबलग' के नाम से हजारों संस्थाएं हैं, जो महिलाओं के सांस्कृतिक-सामाजिक कार्यकलाप का केंद्रबिंदु बनी हैं।''

इस अध्याय से गुजरने के क्रम में यह प्रतीत होने लगता है कि प्रस्तुत पुस्तक ऐतिहासिक क्रमता की सुस्पष्ट प्रविधि से युक्त होने के कारण एक आवश्यक पुस्तक का स्थान प्राप्त करने का प्रयास करती है। पुस्तक का दूसरा अध्याय भारतीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में स्त्री-विमर्श की वैचारिकी को तलाशता है। यह अध्याय अपने संपूर्ण विन्यास में पूरे भारत के सशक्त चिंतकों को समाविष्ट करता है।

पुस्तक का तीसरा अध्याय ताराबाई शिंदे एवं महादेवी वर्मा के विशिष्ट स्वर को लेकर चलता है। इस अध्याय में स्त्री-विमर्श के आयामों से ताराबाई शिंदे एवं महादेवी वर्मा को देखा गया है। साथ ही कुछ शीर्षकों द्वारा चिंतन के विशिष्ट पक्षों को भी व्याख्यायित किया गया है। लेखिका ताराबाई शिंदे की क्रांतिधर्मिता को स्पष्ट करती हैं। साथ ही महादेवी वर्मा की नवाचारिता को अपनाने वाली दृष्टि को भी रेखांकित करती हैं। वे महादेवी वर्मा को उद्धृत करती हैं, ''प्राचीनता की पूजा बुरी नहीं, उसकी दृढ़ता पर नवीनता की भित्ति खड़ी करना श्रेयस्कर है।''

पुस्तक का चौथा अध्याय भारत में स्त्री-मुक्ति के विमर्श को प्रस्तुत करता है। इस अध्याय के माध्यम से लेखिका पहले के नारी-विमर्श को स्त्री-विमर्श में परिवर्तित करती है। परिवर्तन के साथ ही स्त्री-मुक्ति आंदोलन की शुरुआत भी मानती हैं।

''उन्नीसवीं सदी का स्त्री-मुक्ति आंदोलन नवजागरण की चेतना से प्रभावित है। इसमें ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थनासमाज जैसे सुधार आंदोलनों का ही प्रमुख योगदान रहा है।''

इसी अध्याय में वे एम. ई. कुजीन्स के हवाले से दिखलाती हैं, ''मुझे याद आता है कि कलकत्ता कांग्रेस मंच से शक्ति एवं सम्मान-प्राप्त जिन तीन महिलाओं ने मुझे विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया, वे थीं अध्यक्ष की आसंदी पर विराजमान श्रीमती बेसेंट, उनकी दाहिनी ओर बैठी महान हिंदू नस्ल की प्रतिनिधि श्रीमती सरोजिनी नायडू तथा बाईं ओर बैठी थीं कट्टर मुसलमानों की पर्दानशीन बेटी तथा मुहम्मद एवं शौकत अली की माता अम्माम बीबी। भारतीय समाज एवं राजनीतिक इतिहास के नए युग में वे तीनों स्त्रियां महत्त्वपूर्ण थीं। स्त्रीत्व अपने अंतःपुर से बाहर निकलकर भारतमाता की आजादी के लिए होने वाले संघर्ष में पुरुषों के साथ भागीदार बनकर कूद पड़ा।''

ईसवी सन् 1917 का उपरोक्त मंजर यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि स्त्री-विमर्श की वास्तविक शुरुआत को लोकेट करने में इस प्रकार की चीजों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। इतिहास के सफों द्वारा यह बात निकलकर सामने आती है कि ये महिलाएं न कभी धैर्य खोती थीं और न कभी विचलित होती थीं। 1917 को इसीलिए याद भी किया जाता है, क्योंकि इसी वर्ष एनी बेसेंट, डेरोथी जिन राज दास, मालती पटवर्धन, श्रीमती दादा भाई, अम्बुजमाल ने मिलकर 'Womens India Association' की स्थापना की थी। यह संगठन परवर्ती दौर में अपनी तार्किकता एवं संघर्ष के जज्बे द्वारा महिला संपृक्त प्रसंगों को महत्त्व दिलाता रहा। वास्तव में इस अध्याय को पढ़ते हुए यह स्पष्ट होता जाता है कि लेखिका नारी आंदोलन के प्रभाव को व्यावहारिक धरातल पर घटित होते दिखलाती हैं। इस क्रम में वे मणिपुर के थांगजम मनोरमा केस की अवधारणात्मक प्रस्तुति करती हैं। इसलिए यह कह सकना सही होगा कि डॉ. मालती अपने नजरिए को सैद्धांतिक-व्यावहारिक धरातल पर संतुलित रखने का प्रयत्न करती हैं।

पुस्तक का पांचवां अध्याय अपने पूरे कलेवर में समकालीन महिला उपन्यासकारों के यथार्थ चित्रण एवं नारी, नारी-विमर्श के विभिन्न पक्षों को लिए हुए है। नारी स्वतंत्रता के मुद्दे को कृष्णा सोबती का उपन्यास 'मित्रो मरजानी' एवं प्रभा खेतान का उपन्यास 'छिन्नमस्ता' प्रस्तुत करते हैं। इन उपन्यासों का संक्षिप्त विश्लेषण करने के बाद डॉ. मालती प्रतिपादित करती हैं कि ''पुरुष स्त्री की कार्य क्षमता को मानने से इंकार करते हैं।'' वहीं वे यह बतलाती हैं कि 'आंवा' के माध्यम से चित्राजी समकालीन समाज में अपनी अलग पहचान, अपना अलग अस्तित्व बनाने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। वहीं वह यह भी प्रतिपादित करती हैं कि स्त्री-विमर्श का मतलब स्त्री-पुरुष की स्पर्धा की दौड़ नहीं है, स्त्री की स्वयं की आलोचना भी है।

पुस्तक का छठा अध्याय अपने ताने-बाने में हिंदी महिला उपन्यासकारों के उपन्यास के विभिन्न प्रकार के समकालीन मुद्दों पर प्रकाश डालता है। इस अध्याय में वे समाज में फैलती मूल्यविहीनता, जिंदगी के सच एवं राजनीति में तिकड़म में फंसी नारी एवं उनसे संघर्ष करने वाली नारी को सम्मुख लाती हैं। पुस्तक के सातवें अध्याय में डॉ. मालती ने अपनी विश्लेषणात्मकता में मलयाली उपन्यासों को लिया है। हर रचनाकार की अपनी सीमा हुआ करती है। डॉ. मालती ने भी अपनी मर्यादाओं का ध्यान रखा है। इसी से वे वृहत् औपन्यासिक संसार में से पी. केशवदेव, बशीर, एम. के. पोट्टेकाउ, पी. सी. कुट्टिकृष्णन, तकषी, एम.

टी. वासुदेवन नायर, माधवी कुट्टी आदि रचनाकारों की रचनाओं के माध्यम से सामाजिक मुद्दों एवं उनकी उपयोगिता को सामने लाने का प्रयत्न करती हैं। चयनित उपन्यासों में मलयाली समाज का जीवन स्पंदित है। सामाजिक परिवेश की सच्चाइयों का इतिवृत्तात्मक आख्यान उपन्यासों में मिलता है। डॉ. मालती उपन्यासों के विश्लेषण क्रम में प्रतिपादित करती हैं मलयाली समाज का एक हिस्सा अपनी पुरातनता को लेकर विभ्रमों की ओर बढ़ गया है। आज भी अपनी प्रगतिशीलता से लैस होने के बावजूद एक तबका पुरानी मान्यताओं से मुक्ति नहीं पा सका है। पुस्तक के आठवें अध्याय में केरल में नवजागरण का प्रभाव एवं उसमें उपजते स्त्री-विमर्श के परिप्रेक्ष्य में मलयालम के पहले उपन्यास 'इंदुलेखा' का मूल्यांकन है। इस मूल्यांकन प्रक्रिया में केरलीय समाज के आपसी समीकरणों एवं रूढ़िग्रस्त प्रविधियों की उपादेयता पर विचार करने की अभिप्सा प्रस्तुत करती है। डॉ. मालती का कहना है कि, ''मलयालम उपन्यास में पहली बार स्त्रियों के सामाजिक अस्तित्व एवं स्वतंत्रता संबंधी बुनियादी विचार इंदुलेखा के जरिए सामने आए हैं।''

अध्याय नौ में वह गांधीजी की स्त्री संबंधी विचारणा के मूल तक पहुंचती हुई बतलाती हैं कि व्यावहारिक जीवन में गांधीजी स्त्री-पुरुष समानता पर बल प्रदान करते थे। ''जिस रूढ़ि और कानून को बनाने में स्त्री का कोई हाथ नहीं था और जिसके लिए सिर्फ पुरुष ही जिम्मेवार था, उस कानून और रूढ़ि के जुल्मों ने स्त्री को लगातार कुचला है। अहिंसा की नींव पर चले गए जीवन की योजना में जितना और जैसा अधिकार पुरुषों को अपनी भविष्य रचना का है, उतना और वैसा ही अधिकार स्त्री को भी अपना भविष्य तय करने का है।''

इसके आगे ही, ''स्त्री-पुरुष भेद को मानने की मेरी वृति नहीं है। मैं तो मानता हूं कि स्त्रियों के सामाजिक, कौटुंबिक और राजनीतिक अधिकार और कर्तव्य वही हैं, जो पुरुषों के हैं। दोनों का आर्थिक आधार, सामाजिक दर्जा समान है और दोनों की नैतिक योग्यता भी एक है।''

मालतीजी ने तीन पृष्ठों के इस संक्षिप्त अध्याय द्वारा मलयालम उपन्यास अग्निसाक्षी का मूल्यांकन गांधीजी की दृष्टि के आलोक में किया है। पुस्तक का दसवां अध्याय 'स्त्री-विमर्श : समकालीन मलयालम महिला उपन्यासकारों का संदर्भ' शीर्षक से है। इस अध्याय में डॉ. मालती उपन्यास लेखिकाओं द्वारा चित्रित महिला स्वतंत्रता की चेतना को व्याख्यायित करती हैं। उनके अनुसार निज स्वतंत्र चेतना अधुनातन शिक्षा प्रणाली से बनी है, जिसके अपने आयाम हैं। महत्त्वाकांक्षा, मर्यादा, व्यक्तिगत स्वतंत्रता के समीकरण में महिलाएं निश्चिंत न होकर दिशाविहीनता की तरफ अग्रसर हैं। इस अध्याय में ललितांबिका अंतर्जनम, के. सरस्वती अम्मा, माधवी कुट्टी, सारा जोसेफ, राजलक्ष्मी, वी. वत्सला, के. बी. श्री देवी की रचनाओं में विन्यस्त स्त्री-शक्ति के आयामों को प्रतिबिंबित किया है। इन्होंने प्रतिपादित किया है कि इन रचनाकारों ने स्त्री-शक्ति या स्त्री-अस्मिता को सृजन का विषय बनाया है। अपने विश्लेषण का सारांश प्रस्तुत करते हुए डॉ. मालती लिखती हैं कि, ''समकालीन मलयालम महिला उपन्यासकार दबी-कुचली और पीड़ित महिला की मुक्ति बुलंद करती है, साथ ही मुक्ति के नाम पर दिशाहीन होकर भटकती नारी को सचेत भी करती है।''

ग्यारहवें अध्याय में डॉ. के. एम. मालती ने हिंदी कथा-साहित्य एवं मलयालम कथा-साहित्य को केंद्र में रखकर स्त्री-विमर्श के पक्षों को व्याख्यायित किया है। इस अध्याय में डॉ. के. एम. मालती ने हिंदी एवं मलयालम भाषा की कहानीकारों की चर्चित कहानियों द्वारा समकालीन समाज में स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों के बीच बनती जाल एवं शक-शुबह की दीवार के आयामों को व्याख्यायित किया है। संतान, मां-बाप, पति-पत्नी संबंधों में बननेवाली संवेदनहीनता को रचनाकार ने पकड़ने की कोशिश की है। उम्र आदमी को इतना गया-गुजरा बना देती है कि परिवार ही उसकी उपयोगिता पर शक करने लगता है। इस परिप्रेक्ष्य पर लेखिका का ध्यान जाता है। यह अनायास ही समझा जाना चाहिए कि 'बागबान' नामक हिंदी फिल्म भी इसी पक्ष को व्याख्यायित करती है। लेखिका संवेदना का आरोपण करने का पक्ष भी लेती दिखलाई पड़ती है, इसी सबब से वह नीलाक्षी सिंह की 'उस बरस के मौसम' कहानी के एक प्रसंग को कोट करते हुए कहती हैं, ''बच्चों का डॉक्टर होना एक बात है, बच्चे की मां होना दूसरी बात। बच्चे को डॉक्टर बनकर नहीं पाला जा सकता है, उसे मां बनकर पालना पड़ेगा। स्टेथेस्कोप से टटोलकर नहीं, हाथों से महसूस कर पता लगाना होता है तबीयत का मिजाज।''

आज के समय में रिश्तों की अहमियत एवं महत्त्व को सरलता से कुचला जा रहा है। इन्हीं प्रसंगों को लेकर रची जा रही कहानियां दरअसल ढेर सारे मिथकों को, जो समाज ने स्त्री के नाम पर रच रखे हैं, उन्हें निर्भय होकर बिना किसी अपराधबोध के तोड़ने में ये लेखिकाएं सफल रही हैं। पुस्तक का अंतिम अध्याय एक तरीके से उपसंहार जैसा है। प्रथम अध्याय के विचारकों से प्रारंभ करते हुए लेखिका संक्षेपीकरण करती चलती हैं। इस प्रक्रिया में वह नारीवादी अवधारणा को भारतीय वांग्मयों में सन्निहित देखती हैं। वे अपने संपूर्ण विश्लेषण द्वारा 'भारतीय नारीवाद' की अपनी अलग इयत्ता को स्पष्टतया निरूपित करने का प्रयत्न करती हैं। ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्यसमाज के आंदोलनों को भारतीय नारीवाद के प्लेटफार्म के रूप में देखती हैं। डॉ. मालती अपने संपूर्ण विश्लेषण में नारीवादी विमर्श के आयामों का बेहतरीन प्रस्तुतिकरण करती हैं। वे एक प्रकार से यह जतला देती हैं कि नारी-विमर्श वस्तुतः सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, सभी स्तरों के विमर्श के केंद्र में आ चुका है।

भाषा एवं अवधारणात्मक स्पष्टता के धरातल पर डॉ. के. एम. मालती की प्रस्तुत पुस्तक सशक्त है। सरल, सुग्राह्य एवं सभी पक्षों की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति पुस्तक को स्मरणीय एवं संग्रहणीय बना देती है। अगर कहने की छूट लेकर कहा जाए तो यह कहा जा सकता है कि डॉ. के. एम. मालती की प्रस्तुत पुस्तक भारतीय नारीवाद या भारतीय स्त्री-विमर्श को समावेशी दृष्टिकोण से जानने-समझने हेतु अच्छी पुस्तक है।

स्त्री-विमर्श : भारतीय परिप्रेक्ष्य/डॉ. के. एम. मालती/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 300

साहित्य-विद्यापीठ, म.गां.अ.हि.वि., वर्धा-442001 (महाराष्ट्र), मो. 8055983924

संकट के बरक्स

श्रीभगवान सिंह

विज्ञान एवं औद्योगिक क्रांति की कोख से जिस मशीन केंद्रित आधुनिक सभ्यता का जन्म हुआ, वह अपने जन्मकाल से एक तरफ मानव-समाज के लिए सुख-सुविधाओं की बरसात करती रही, तो दूसरी तरफ उसके लिए नाना संकटों का जाल भी बुनती गई। उसने धर्म एवं आस्था को विकास-विरोधी सिद्ध करते हुए ऐसी भोगवादी विस्तारवादी जीवन-शैली को बढ़ावा दिया, जिसके परिणामस्वरूप हर पल विकास के नए-नए कीर्तिमान स्थापित करने का दम्भ भरने वाला मानव-समाज युद्ध, हिंसा, विप्लव, शोषण अशांति जैसी व्याधियों का मंदिर बनता गया। उसने उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, दो-दो विश्व युद्धों का विषधर उपहार दिया। उसके कारण निरंतर उपभोक्तावाद का बढ़ते जाना, प्राकृतिक संसाधनों का बेतहाशा छीजते जाना, मारक अस्त्रों का बढ़ता अंबार जैसे संकटों की बढ़ोतरी का सिलसिला जारी है, हालांकि इन संकटों से उबरने के मार्गों की खोज भी होती रही है। मार्क्सवाद, समाजवाद, लेनिनवाद, स्तालिनवाद, माओवाद जैसे अनेक वादों का प्रयोग एक सदी से होता रहा, लेकिन 'मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की' जैसी स्थिति बनी रही। थमने की बात तो दूर, उल्टे ये संकट उफनती नदी की तरह फैलते जा रहे हैं। ऐसे भयानक संकट-ग्रस्त परिदृश्य में इन संकटों के बरक्स संभाव्य विकल्प के रूप में जो चीज आश्वस्ति दे पाती है, वह है गांधी का जीवन-दर्शन, जिसे गंभीर विमर्श का विषय बनाते हुए वीरेंद्र कुमार बरनवाल ने अपनी सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'हिंद स्वराज : नव सभ्यता-विमर्श' के रूप में प्रस्तुत किया है।

यह पुस्तक तीन खंडों में है। दूसरे खंडों में महात्मा गांधी की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंद-स्वराज' का मूल गुजराती पाठ के साथ-साथ उसका हिंदी में अनूदित पाठ भी है। प्रथम और तृतीय खंड में बरनवालजी ने 'हिंद स्वराज' से लेकर गांधी जी के जीवनपर्यंत लेखों, भाषणों एवं कार्यों का विश्व के अन्य प्रसिद्ध दार्शनिकों, विचारकों की सापेक्षता में विशद विवेचन करते हुए आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता या भूमंडलीकरण दौर की जटिल समस्याओं के जंजाल में हांफते, दम तोड़ते मानव समाज के बचाव के मार्ग के रूप में गांधी के जीवन-दर्शन की वांछनीयता एवं अपरिहार्यता को रेखांकित किया है।

ध्यातव्य है कि 1909 में छपी गांधी की पुस्तक 'हिंद स्वराज' को उनके राजनीतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले से लेकर उनके राजनीतिक उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू के

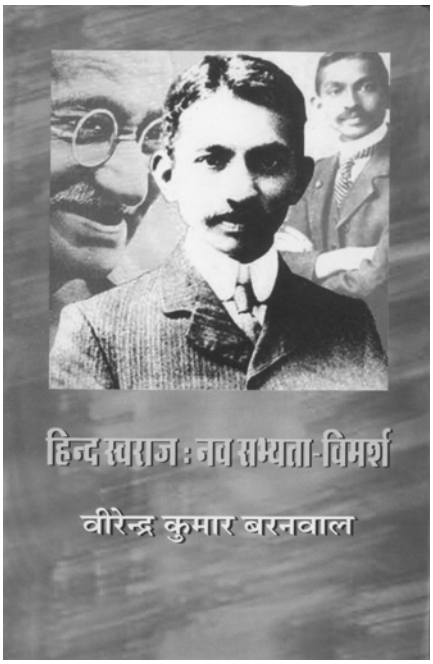

अतिरिक्त बहुसंख्यक बुद्धिजीवी पश्चिम की विज्ञान एवं मशीन केंद्रित सभ्यता की नकारात्मक आलोचना के रूप में देखते हुए उसे विज्ञान एवं प्रगति विरोधी मानते रहे। इस धारणा के प्रतिवाद में श्री बरनवाल इस पुस्तक में दर्शाते हैं कि गांधी ने एक अहमक की तरह पश्चिम का समग्र निषेध नहीं किया, बल्कि पश्चिम की उस दूसरी वैचारिक धारा से अपना नाता जोड़ा, जो उन्नीसवीं सदी में ही वहां की भौतिक सुख-सुविधा को प्रमुखता देने वाली जीवन-दृष्टि के विरुद्ध पश्चिम के ही कुछेक महत्त्वपूर्ण लेखकों, चिंतकों द्वारा सामने लाई जा रही थी। गौरतलब है बरनवाल का यह मंतव्य, ''भोग केंद्रित भौतिकतावादी आधुनिक सभ्यता के प्रतिरोध में रूस से काउंट लियो टॉलस्टॉय (1828-1910), इंग्लैंड से रूसी मूल की ही मैडम हेलेना पेत्रोवना ब्लॉवस्की, जॉन रस्किन (1819-1900) तथा थॉमस कार्लाइल (1795-1881) और अमेरिका से आर.डब्ल्यू एमर्सन (1803-1882) तथा हेनरी डेविड थोरो (1817-1862) जैसे विचारकों, रचनाकारों की आवाजें जड़ता के गुरुत्वाकर्षण को बेधकर उठने लगीं और शीघ्र ही संवेदनशील दिलों पर धीरे-धीरे ही सही, उसकी दस्तक सुनाई पड़ने लगी। ये आवाजें पश्चिम में उभरते एक दूसरे पश्चिम की थीं, जो पहली बार अस्तंगत होती उन्नीसवीं सदी में लंदन पढ़ने पहुंचे तरुण गांधी के कानों में जरूर पड़ी होंगी।...'हिंद स्वराज' में गांधी का सभ्यता-विमर्श, जिसका मूल स्वर पश्चिम की आधुनिक सभ्यता का प्रतिरोध और उसकी तीखी आलोचना है, अपनी आत्मा में ठेठ हिंदुस्तानी होते हुए भी, पश्चिम में उभरे 'दूसरे पश्चिम' से गहरे प्रभावित और प्रेरित था। इस 'दूसरे पश्चिम' से ही गांधी ने इस 'शैतानी सभ्यता की आलोचना और उसके

आजीवन प्रतिरोध के औजार ग्रहण किए थे।'' (पृ. 43)

मतलब यह कि गांधी ने 'हिंद स्वराज' में जिस जीवन-दर्शन—सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, इंद्रिय-निग्रह आदि के समन्वित रूप में सत्याग्रह का प्रतिपादन किया, वह एक तरफ हिंदुस्तानी मिट्टी में पैदा हुए वेदांत, बौद्ध, जैन, वैष्णव मत आदि के निचोड़ से निर्मित था, तो दूसरी तरफ 'दूसरे पश्चिम' की वैचारिकी से भी पोषित एवं सिंचित था। बरनवाल अपने इस विमर्श में बखूबी यह सिद्ध कर पाते हैं कि आधुनिक मशीनी सभ्यता की कोख से जन्मी प्रतिस्पर्धा, अतिशय, इंद्रिय-सुख, हिंसक दौड़, गलाकट प्रतिद्वंद्विता, शोषण जैसी बीमारियों का उपचार उन्नीसवीं सदी में कार्लमार्क्स-एंगेल्स ने यूरोपीय इतिहास का मंथन करते हुए वर्ग-चेतना, वर्ग-संघर्ष का हलाहल घट के रूप में प्रस्तुत किया तो बीसवीं सदी के प्रथम दशक में गांधी ने भारत और 'दूसरे पश्चिम' के मंथन, मेल एवं समन्वय से इन व्याधियों की औषधि के रूप में 'सत्याग्रह' का सुधा-कलश का उपहार मानव-समाज को दिया।

दुर्भाग्यवश मशीनों को प्रगति, खुशहाली का अनिवार्य संवाहक मानने वालों ने गांधी के इस सुधा-कलश को मशीनों का विरोधी मानते हुए उसे चर्चा के लायक भी नहीं समझा। इस क्रम में, मशीनों के संबंध में गांधी के नकारात्मक के साथ-साथ जो सकारात्मक विचार और तर्क थे, उनकी पूर्णतः अनदेखी की जाती रही। बरनवाल अपने विमर्श में इस पहलू को न केवल शामिल करते हैं, बल्कि उस पर सांगोपांग रूप से विचार करते हुए मशीनों के संबंध में गांधी के नजरिये की सही जानकारी देते हैं। द्रष्टव्य है उनके विवेचन का यह अंश, ''मशीनों के पक्ष में अक्सर एक तर्क दिया जाता है कि वे श्रम की बचत से व्यक्ति को कला, साहित्य और संस्कृति के विविध क्षेत्रों में रचनात्मक योगदान के लिए आवश्यक अवकाश प्रदान करती हैं।'' गांधी इस तर्क के निपट खोखलेपन से अच्छी तरह परिचित थे। कर्म—शारीरिक श्रम और संस्कृति के बीच अलगाव के वह पक्षधर नहीं थे। एक अगस्त, 1936 में 'हरिजन' में एक सवाल के जवाब में वे कहते हैं कि प्राचीन रोम में दोनों को अलग करने के प्रयास हुए थे, पर वो बुरी तरह असफल सिद्ध हुए। श्रम के बिना संस्कृति को, ऐसी संस्कृति को जो श्रम का प्रतिफल न हो, गांधी विकृति मानते थे। एक रोमन कैथोलिक लेखक के अनुसार, गांधी बताते हैं, श्रमविहीन संस्कृति 'वमन' है। रोमन नागरिकों ने विलासिता को अपनी आदत बना लिया था और वो नष्ट हो गए।...वह मशीनों के खिलाफ नहीं, बल्कि मनुष्य के ऊपर मशीनों के स्वामित्व के खिलाफ हैं। वह पश्चिमी ढंग के औद्योगीकरण की जगह देश की परिस्थितियों के अनुरूप अपने ढंग के औद्योगीकरण के पक्षधर थे। (पृ. 85)

स्पष्टतः गांधी मशीनों के समग्र निषेध के पक्ष में कतई नहीं थे। उनका विरोध उन्हीं मशीनों से था, जो लोगों को निष्क्रिय और बेरोजगार बनाकर उनके पेट पर लात मारती हैं और आर्थिक-सामाजिक असमानता की भयावह खाई पैदा करती हैं। गांधी के लिए शारीरिक श्रम का इतना महत्त्व था कि जिस बुद्ध की करुणा, अहिंसा के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी, उनकी भी उन्होंने इस बात के लिए आलोचना करने में संकोच नहीं किया कि उन्होंने अपने अनुयायियों को शारीरिक श्रम से अलग कर दिया। इस तथ्य से अवगत कराते हुए बरनवाल लिखते हैं, ''अहिंसा में अटूट आस्था का तार उन्हें बुद्ध से गहरे जोड़ता था, पर भारत और भारत के बाहर के देशों—तिब्बत, बर्मा, श्रीलंका, थाईलैंड और कम्बोडिया जैसे देशों के बौद्ध संघों में जो भारी संख्या में नितांत निष्क्रिय भिक्षा पर आश्रित विशाल भिक्षु-समाज था, उससे गांधी गहरे विचलित होते थे। दूसरों के शरीर-श्रम पर आश्रित उन्हें वह परोपजीवी (पैरासाइट) मानते थे।...वह कहते हैं कि उन्हें यदि भगवान बुद्ध से रू-ब-रू होने का सौभाग्य मिलता तो वह उनसे निस्संकोच पूछते कि उन्होंने अपने अनुयायियों को ध्यान के साथ शरीर-श्रम की भी शिक्षा क्यों नहीं दी? हिंदू धर्म के विभिन्न संप्रदायों के अधिकांश मठों के साधुओं-संन्यासियों से भी उनकी यही शिकायत है। उनके अनुसार अकर्मण्यता के कारण ये संन्यासी मानवता के आदर्श उदाहरण बनने में अक्षम हैं।'' (पृ. 300) स्पष्ट है कि गांधी का मशीनों से विरोध इसलिए नहीं था कि वे पश्चिम की देन हैं, अपितु वे मनुष्य को शारीरिक श्रम से विमुख कर अकर्मण्यता को प्रश्रय देने वाली हैं, इसलिए उसे वे मानव हित के लिए अनिष्टकारी मानते हैं। शरीर-श्रम के महत्त्व को लेकर गांधी का जो इतिहास बोध दिखाई देता है, वह यह कि जिस सभ्यता ने भी शरीर-श्रम की उपेक्षा कर अकर्मण्यता एवं विलासिता को बढ़ाया दिया, उसका विनाश हुआ और यही हश्र भविष्य में इस मशीनी सभ्यता का भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

गांधी के जीवन-दर्शन की जिस एक अन्य उल्लेखनीय विशिष्टता की ओर बरनवाल हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, वह यह कि जहां विज्ञान की उपलब्धियों से मोहाविष्ट समाज ने यह देखने का भी कष्ट नहीं किया कि कैसे वरदान बने विज्ञान के कदमों तले मनुष्यता का बहुत कुछ मूल्यवान नष्ट होता जा रहा है, वहां गांधी ने बेलाग शब्दों में इस कथित विज्ञान के खतरों से सावधान किया, ''आधुनिक विज्ञान के वरदहस्त के नीचे जिस तरह मनुष्य के चीथड़े उड़ रहे थे, उसे विश्व का एक छोटा-सा संवेदनशील वर्ग सांस रोककर बेबस देख रहा था। विज्ञान-पोषित आधुनिकता के जनक पश्चिम के इस संवेदनशील वर्ग के कानों में धीरे-धीरे एक अधनंगे, निहायत दुबले, पर फौलादी संकल्प के धनी बूढ़े के अन्याय, अनाचार, दमन और शोषण के विरुद्ध एक अपूर्व अहिंसक संघर्ष के मार्ग पर बढ़ते दृढ़ चरणों की आहट सुनाई पड़ने लगी थी। उन्हें लगा मनुष्यता विकल्पहीन नहीं है। प्रतिकार का मार्ग जरूरी नहीं है रक्तरंजित हो। और यहीं पर गांधी इस दग्ध दुखी पृथ्वी पर मनुष्य की गरिमा की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष हेतु अपने अपूर्व अहिंसक अस्त्र सत्याग्रह के साथ उत्तर आधुनिकता के नए प्रस्ताव बिंदु सिद्ध होते हैं।'' (पृ. 282)

गांधी ने 'दूसरे पश्चिम' और भारतीय चिंतन के मेल से जो जीवन-दर्शन दग्ध-दुखी पृथ्वी' को बचाने के लिए तैयार किया, जैसा कि बरनवाल बताते हैं और सही बताते हैं कि वह आधुनिक सभ्यता से उत्पन्न संकटों से निबटने वाले मार्क्सवाद, समाजवाद आदि से अधिक व्यापक हैं, क्योंकि इसमें न सिर्फ मनुष्य समाज को, बल्कि समस्त मनुष्येतर प्राणियों, पूरी सृष्टि को बचाने की तरकीब सन्निहित है। अतिशय औद्योगीकरण के साथ अतिशय उपभोग के खतरे को देखते हुए गांधी ने अपरिग्रह, आवश्यकताओं पर नियंत्रण, सादगी, अहिंसा, शरीर श्रम आधारित उद्योग

आदि पर जोर देकर यही मार्ग दिखाया। गांधी-चिंतन के इस पहलू पर फोकस करते हुए बरनवाल उचित ही कहते हैं, ''गांधी ने अपने आधी सदी से अधिक चिंतन के दौरान यह सिद्ध करने का अनवरत प्रयास किया कि लगातार धरती के पर्यावरण के विनाश की कीमत चुकाकर अंधाधुंध औद्योगीकरण आर्थिक दृष्टि से भी निरापद नहीं है। गांधी हमें यह देखने की दृष्टि देते हैं कि हमारे जल-जंगल-जमीन के लगातार भयावह रूप से छीजने से हो रही भीषण हानि के सहस्रांश की भी भरपाई की क्षमता हमारे सुरसाबदन बढ़ते उद्योगों में नहीं है। इसका आर्थिक मूल्य अर्थशास्त्र की बारीकियों को बिना जाने भी समझा जा सकता है। गांधी-चिंतन का यह प्रबल उत्तर आधुनिक पक्ष है।'' (पृ. 306) इस क्रम में बरनवाल पूंजीवादी और मार्क्सवादी दोनों अर्थदर्शनों के बरक्स गाँधी चिंतन की इस विशिष्टता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैंश ''विशाल उद्योगों की जगह कुटीर उद्योगों पर गांधी का जोर दरअसल महाकाय मशीनों पर आश्रित उन उद्योगों के हिंसक चरित्र के प्रतिरोध का द्योतक था। पूँजीवादी और मार्क्सवादी दोनों अर्थदर्शनों के मूल में औद्योगीकरण था। इससे परिचित गाँधी को उनके मानव विरोधी चरित्र को समझने में जरा भी देर नहीं लगी। (पृ. 307)

प्रसिद्ध गांधीवादी चिंतक धर्मपालजी का कहना है कि आधुनिक सभ्यता मनुष्य केंद्रित सभ्यता है—इसे ध्यान में रखें तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि इस आधुनिक सभ्यता की कोख से उत्पन्न संकटों के बरक्स मार्क्सवाद, समाजवाद, लेनिनवाद, माओवाद आदि जो विकल्प आए, वे भी मनुष्य केंद्रित रहे, अन्य प्राणियों की सुरक्षा का सवाल उपेक्षित रहा। इनकी तुलना में निस्संदेह गांधी सबके बचे रहने का मार्ग दिखाते हैं, लेकिन विडम्बना यह कि अब भी जुगनू की तरह जहं-तहं बौद्धिक प्रकाश बिखेरने वाले कुछ बुद्धिजीवियों के लिए वर्तमान संकटों के समाधान स्वरूप मार्क्सवाद से जुड़ी विचारधाराओं के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नजर नहीं आता, लेकिन बरनवाल वर्तमान संकटों के संदर्भ में तमाम वादों-प्रतिवादों एवं विकल्पों का परीक्षण करते हुए इस कटुसत्य को सामने रखते हैं कि हँसकर या रोकर वर्तमान मानव-समाज को गांधी के विचारों को अपनाना ही होगा, क्योंकि विकास की आंधी से आती जा रही वीरानगी से बचने का कोई अन्य विकल्प है नहीं। गांधी को असंभव मानने की जिद छोड़कर तमाम विकास प्रेमियों को थोड़ा 'यू टर्न' लेते हुए इस तथाकथित असंभव को संभव बनाने की मुहिम में लग जाना होगा। ध्यातव्य है कि गांधी ने अपने आचरण से जिन चीजों को संभव बनाया, बकौल इतिहासविद डॉ. सुधीरचंद्र, विगत पांच-छः दशकों में हमने उन्हें छोड़कर असंभव बना दिया। अब फिर उस असंभव को संभव बनाने में ही समस्त सृष्टि का मंगल है—यही बोध कराता है बरनवाल का यह सभ्यता-विमर्श।

हिंद स्वराज : नव सभ्यता : विमर्श/वीरेंद्र कुमार बरनवाल/राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 450

205, श्याम अपार्टमेंट, बड़ी खंजरपुर, भागलपुर (बिहार)-812001, मो. 09801055395

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से प्रकाशित पत्रिकाओं के नए अंक

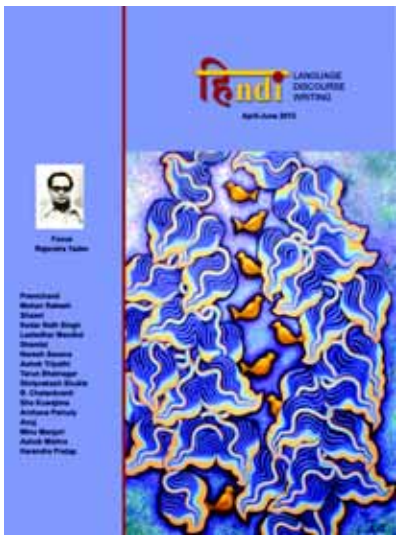

अप्रैल-जून 2012, मूल्य : ` 100

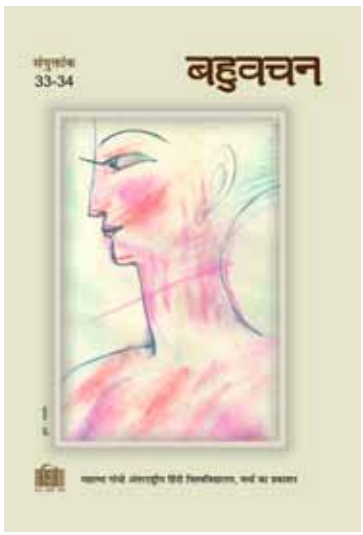

संयुक्तांक 33-34, मूल्य : ` 50

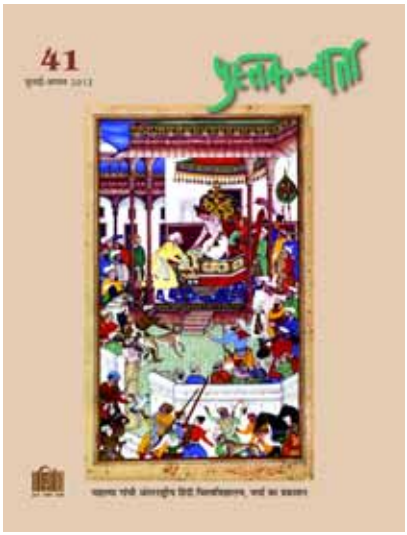

जुलाई-अगस्त 2012, मूल्य : ` 20

ज्ञान शांति मैत्री

पत्रिका की सदस्यता के लिए संपर्क करें :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र), फोन : 07152-232943

देश दर्शन के रोचक आख्यान

सुभाष सेतिया

जाने-माने कवि राजेंद्र उपाध्याय प्रकृति और समाज के जागरूक पारखी और कुशल व्यंग्यकार भी हैं, यह बात उनकी नई पुस्तक 'वहां मलय सागर तक' पढ़कर सामने आती है। यह पुस्तक हिंदी के विरल यात्रा-संस्मरण साहित्य में एक सुंदर कड़ी मानी जा सकती है। 30 छोटे-छोटे लेखों का यह संग्रह अपने में देश के विभिन्न भागों और कुछ विदेशी नगरों में लेखक द्वारा बिताए गए वक्त और वहां के जन-जीवन, प्राकृतिक छटा और मानवीय संबंधों का काव्यमय विवरण समेटे हुए है। लगभग 15 पुस्तकों के रचयिता राजेंद्र उपाध्याय की यात्रा संस्मरणों की यह पहली पुस्तक है। यों तो पुस्तक में पूर्वोत्तर भारत, दक्षिण भारत, मध्य प्रदेश, उत्तराखंड, पश्चिम बंगाल सहित अनेक राज्यों के विविध स्थानों से जुड़े संस्मरणों को पुस्तक में स्थान मिला है, किंतु सबसे अधिक जिस भूभाग की यात्रा का विवरण हमें पढ़ने को मिलता है, वो है समुद्र की गोद में बसे द्वीपों का अनूठा प्रदेश अंडमान निकोबार द्वीप समूह। 127 पृष्ठों की पुस्तक के लगभग आधे पृष्ठों में यही रम्य प्रदेश मौजूद हैं।

लेखक की अंडमान निकोबार यात्रा हालांकि आकाशवाणी के संपादक के रूप में सरकारी दौर के तौर पर हुई, किंतु कवि और पत्रकार की संवेदनशील एवं पारखी दृष्टि ने वहां के जन-जीवन, प्रकृति, संस्कृति, राजनीति, प्रशासन तथा जनजातीय जीवन के अनेक अनछुए पहलुओं को पहचाना और उन्हें पाठकों के सामने अपनी सहज काव्यमय शैली में प्रस्तुत किया है। द्वीप समूह की बारिश तथा सुनामी की चर्चा जहां-तहां पढ़ने को मिलती है, यहां तक कि सुनामी के दिल दहला देने वाले किस्से सुनकर लेखक स्वयं भी सुनामी की आशंका से भयाक्रांत दिखाई देता है। लेखक ने इस त्रासदी को व्यंग्य का जामा पहनाकर अनूठे ढंग से व्यक्त किया है। 'जो घाव अभी हरे हैं' लेख की पंक्तियां दृष्टव्य हैं : ''सुनामी का डर यहां के लोगों के मन में इस कदर समाया हुआ है कि वे अब भी इसकी लोमहर्षक कथाएं सुनाते हैं।...सरकार लाशों को गिनकर मुआवजा दे रही थी, जिसके परिवार के ज़्यादा लोग मरे हैं, उसको ज़्यादा मुआवज़ा मिलेगा। एक लड़की को 42 लाख रुपये मिले। उसने 24 लाख रुपये मुआवज़ा पाने वाले एक युवक से शादी कर ली।'' लेखक का व्यंग्य समूची पुस्तक में झांकता हुआ हमें रह-रहकर झकझोरता रहता है। एक और उदाहरण देखिए। ''अबर्डीन बाज़ार में गांधीजी की विशालकाय प्रतिमा लगी है, पर उसमें गांधीजी की लाठी कुछ ज़्यादा ही बड़ी है। अहिंसा की वकालत करने वाले गांधी की यह लाठी कुछ विसंगति रचती है।''

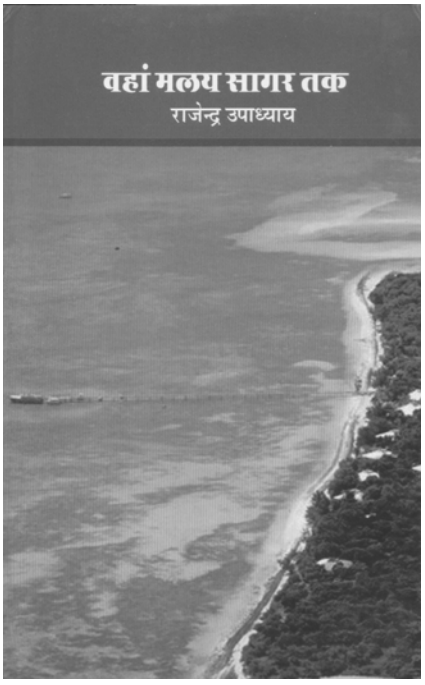

अंडमान-निकोबार द्वीप समूह के विभिन्न द्वीपों तथा संस्थाओं का रोचक ब्यौरा पढ़कर प्रदेश की सच्ची तस्वीर पाठकों के सामने उभर आती है। वहां की प्रकृति, देश भर के लोगों का शांति और एकता के साथ रहना, सादा जीवन और द्वीप समूह के जनजीवन में हिंदी की अहम भूमिका के किस्से पढ़कर पाठकों के मन में इस प्रदेश की बहुत ही प्रिय और आकर्षक छवि बनती है। लेखक ने अपने संस्मरणों में अनेक स्थानों पर हिंदी के प्रयोग, उपेक्षा अथवा सम्मान की चर्चा की है। द्वीप समूह में हिंदी को फलता-फूलता देखकर लेखक देश की राजधानी दिल्ली में हिंदी की स्थिति से तुलना करते हुए लिखता है, ''उस टूटे हुए टीन के सामुदायिक भवन में राजभाषा का जो नज़ारा देखने को मिला, वह दिल्ली के राजभाषा सप्ताह के दौरान भी मंत्रालयों में नहीं दिखता है।''

पोर्टब्लेयर हो या पूर्वोत्तर भारत अथवा देश-विदेश के अन्य भूभाग, इन यात्रा संस्मरणों में प्रकृति दर्शन को सबसे अधिक महत्त्व मिला है। एक बात उल्लेखनीय है कि प्रकृति का स्पर्श पाते ही लेखक का विवरण काव्यमय हो उठता है। अपने गृह प्रदेश मध्य प्रदेश की यात्रा के दौरान लेखक नर्मदा उत्सव की छटा को यों शब्दबद्ध करता है, ''पानी में प्रकाश और छाया का खेल बहुत खूबसूरत होता है। चौबीस घंटे में नर्मदा का रूप बदलता रहता है। कभी वह कुंआरी नर्मदा है तो कभी संपूर्ण युवती, कभी अधेड़ तो कभी बुढ़िया। उसका सोने का रूप दमकता है। कभी-कभी वह दुःख में काली पड़ जाती है। प्रकृति के इस काव्यमय वर्णन

के साथ-साथ लेखक ने कई स्थानों पर अज्ञेय, रवींद्रनाथ टैगोर, प्रयाग शुक्ल तथा अन्य कवियों का भी उल्लेख किया है। अज्ञेय तो लेखक की वर्णन शैली का भी अभिन्न अंग बन जाते हैं। ये शब्द हमें अज्ञेय की याद दिलाते हैं, ''कितने दिनों में, कितनी नावों में, कितनी बार बैठा हूं। मन में पानी के कई द्वीप हैं तो नावों के भी कई द्वीप हैं। मेरी आंखों में अथाह नदी थी कभी।''

लेखक की अधिकतर यात्राएं, क्योंकि सरकारी काम के सिलसिले में की गई हैं, इसलिए इन संस्मरणों में प्रशासन तंत्र तथा सरकारी दफ्तरों की विसंगतियों की व्यापक झलक मिलती है। लेखक अपने और अपने सहयोगियों पर फब्तियां कसने में भी संकोच नहीं करता। इन विसंगतियों का संवेदनशील एवं व्यंग्यात्मक वर्णन पुस्तक को रोचकता तथा विश्वसनीयता प्रदान करता है। यात्रा के दौरान पेश आने वाली कठिनाइयों व सरकारी दौरों की सुविधाओं से संबंधित मजेदार किस्से रोचक शैली में प्रस्तुत किए गए हैं।

ज़ाहिर है पुस्तक में संकलित लेख अलग-अलग समय पर लिखे गए हैं, किंतु लेख में मास, वर्ष का उल्लेख न होने के कारण पाठक को यह जानने में दुविधा होती है कि जो ब्यौरा वह पढ़ रहा है, वह किस समय का है। उदाहरण के लिए पांच साल पहले टैक्सी किराए की अधिक लगने वाली राशि आज के पाठक पर वह प्रभाव नहीं छोड़ेगी, जो लेखक चाहता है। इसी तरह की और भी अनेक सूचनाएं हैं, जिनका महत्त्व समय विशेष के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। डायरी पृष्ठों में तिथि, वर्ष आदि दिए गए हैं, लेकिन वहां भी क्रम का ध्यान नहीं रखा गया है और बाद की तिथि का वर्णन पहले दे दिया गया है।

पुस्तक का नामकरण भी और अधिक स्पष्ट तथा अर्थपूर्ण हो सकता था।

वहां मलय सागर तक/राजेंद्र उपाध्याय/सूर्य प्रकाशन मंदिर, नेहरू मार्ग (दाऊजी रोड), बीकानेर-334001 (राजस्थान)/मूल्य : ` 150

सी-302, हिंद अपार्टमेंट्स, प्लाट नं. 12, सैक्टर 5, द्वारका, नई दिल्ली-110075

हिंदीसमयडॉटकॉम : हिंदी का सबसे बड़ा ऑनलाइन पुस्तकालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से एक अपेक्षा यह की जाती है कि वह हिंदी को अंतराराष्ट्रीय भाषा बनने के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराए। यह तभी संभव हो सकता है, जब हिंदी न सिर्फ गंभीर विमर्श का माध्यम बने, बल्कि हिंदी में लिखा गया महत्त्वपूर्ण साहित्य देश-विदेश के विशाल पाठक समुदाय तक पहुंचे। विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हिंदीसमयडॉटकॉम इसी दिशा में एक महत्त्वाकांक्षी प्रयास है। हिंदीसमयडॉटकॉम का उद्देश्य यह है कि हिंदी में जो कुछ महत्त्वपूर्ण लिखा गया है, उसे हिंदीसमयडॉटकॉम के जरिए दुनियाभर में फैले साहित्य प्रेमियों को उपलब्ध कराया जाए।

यद्यपि इंटरनेट पर अनेक ऐसे वेबसाइट हैं, जहां हिंदी में प्रकाशित कुछ कृतियाँ और रचनाएं उपलब्ध हैं, पर कोई ऐसी वेबसाइट नहीं है, जो संपूर्ण हिंदी साहित्य को नेट पर लाने के लिए प्रतिबद्ध हो। इस दृष्टि से हिंदीसमयडॉटकॉम एक अनोखी परियोजना है। इस वेबसाइट ने अल्प समय में ही अच्छी-खासी लोकप्रियता अर्जित कर ली है। अभी तक लगभग साढ़े चार लाख पाठक हमारी वेबसाइट पर आ चुके हैं। करीब दो हजार पाठक रोज हिंदीसमयडॉटकॉम का पन्ना खोलते हैं। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, नार्वे, डेनमार्क, पाकिस्तान, कतर, सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ईरान, पुर्तगाल, स्पेन आदि देशों के पाठक होते हैं। अक्सर हमें इच्छुक पाठकों की मेल मिलती है कि अमुक-अमुक पुस्तक को हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध कराने की कृपा करें।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर इस समय एक लाख से ज्यादा पृष्ठों पर हिंदी की बहुत-सी मूल्यवान रचनाएं संजोई जा चुकी हैं तथा रोज कुछ नया जोड़ा जाता है। पहले चरण में हम कॉपीराइट-मुक्त कृतियों को हिंदीसमयडॉटकॉम पर दे रहे हैं, यद्यपि इसके साथ ही महत्त्वपूर्ण समकालीन साहित्य को भी प्रकाशित किया जाता है। यह सारा साहित्य बिना किसी शुल्क के न केवल इंटरनेट पर पढ़ा जा सकता है, बल्कि डाउनलोड भी किया जा सकता है।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध सामग्री को चौदह मुख्य खंडों में बांटा गया है—उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, भक्ति काल का साहित्य, विभाजन की कहानियां, लेखकों के समग्र और संचयन, ई-पुस्तकें, अनुवाद तथा विविध, जिसमें वैचारिक निबंध, संस्मरण, व्यंग्य, यात्रा वृतांत आदि शामिल हैं। एक प्रमुख खंड 'हिंदुस्तानी की परंपरा' का है, जिसमें उन कृतियों तथा रचनाओं को शामिल किया गया है, जो हिंदी-उर्दू की साझा परंपरा का जीवंत दस्तावेज हैं। एक खंड अभिलेखागार का भी है, जिसमें हिंदी के रचनाकारों की तस्वीरों, उनकी हस्तलिपि में लिखित रचनाओं, ऑडियो, वीडियो, पत्रों आदि का संकलन है। लेखक दीर्घा में हिंदी के सभी समकालीन रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय, फोटोग्राफ, पता, फोन नंबर आदि उपलब्ध कराने का प्रयास जारी है।

जाहिर है, हिंदीसमयडॉटकॉम को निरंतर समृद्ध करते चलना एक बड़ा काम है। इसमें हिंदी के सभी लेखकों, संपादकों तथा हिंदी प्रेमियों का सहयोग अपेक्षित है। इन सभी से अनुरोध है कि अपने सुझाव, उनके पास उपलब्ध रचनाएं तथा सूचनाएं आदि भेजकर हिंदीसमयडॉटकॉम को उपकृत करें। हिंदीसमयडॉटकॉम के संपादक मंडल से संपर्क करने के लिए 07152230912 पर फोन करें या editorhindisamay@gmail.com पर मेल करें।

राजकिशोर

53, इंडियन एक्सप्रेस अपार्टमेंट्स, मयूर कुंज, दिल्ली-110096

फोन : 09650101266

ईसुरी और हिंदी समाज : एक आलोचना

प्रेमशंकर सिंह

आज का हिंदी साहित्य और हिंदी समाज एक तरफ तो समकालिकता की चपेट में है तो दूसरी तरफ अनावश्यक और गैर-साहित्यिक प्रसंगों के द्वारा ध्यानाकर्षण प्रस्तावों के निर्माण में, जिनका उद्देश्य किसी स्वस्थ वैचारिक माहौल का निर्माण कम, छिद्रान्वेषण अधिक होता है। स्थापित सत्ता प्रतिष्ठानों के जिम्मे तो बाकायदा सालजयी रचनाओं की घोषणा के मुहूर्त बताना और आयोजन कर पुरस्कार देना ही सबसे महत्त्वपूर्ण काम शेष रह गया है और हिंदी साहित्य के विभागों की दशा, उसके तो कहने ही क्या... बहुत दिनों तक इंतज़ार करना पड़ जाता है, किसी कायदे की गतिविधि और अध्ययन संबंधी किसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के सामने आने के लिए।

ऐसे में डॉ. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर के हिंदी विभाग और बुंदेली अध्ययन पीठ के अध्यक्ष प्रोफेसर आनंद प्रकाश त्रिपाठी के संपादन में निकली पुस्तक 'जनकवि ईसुरी' यह आश्वस्त करती है कि समूचा परिदृश्य ऐसा ही नहीं है, जिसमें कुछ सार्थक गतिविधियों की गुंजाइश शेष न रह गई हो। यह पुस्तक संपादित जरूर है, पर संपादन में एक दृष्टि ऐसी आद्यंत काम करती दिखाई देती है, जिसके सरोकार और मंतव्य शुरू में ही स्पष्ट कर दिए गए हैं, ''आज ईसुरी की उपस्थिति बुंदेलखंड ही नहीं, देश के साहित्यिक परिदृश्य पर भी बनी हुई है। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों ने भले ही ईसुरी या उन जैसे अनेक लोककवियों और उनकी सृजनात्मकता को नजरअंदाज किया हो, लेकिन हरिवंश राय बच्चन, मैत्रेयी पुष्पा, अंबिका प्रसाद दिव्य, गुण सागर सत्यार्थी जैसे श्रेष्ठ रचनाकारों ने ईसुरी के महत्त्व को समझा और रेखांकित किया है। बुंदेली जाति के यथार्थ, उसकी अस्मिता और स्वाभिमान को समग्रता में व्यक्त करने वाले ईसुरी के पुरुषार्थी व्यक्तित्व का अवदान उसी रूप में श्लाघनीय है, जिस प्रकार मैथिली के विद्यापति, राजस्थानी की मीराबाई, अवधी के जायसी और ब्रज के सूरदास हैं। जिस तरह बिदेसिया शैली के लिए भोजपुर में भिखारी ठाकुर विख्यात हैं, वैसे ही बुंदेलखंड में चौकडिया फाग का पर्याय ईसुरी हैं। अद्वितीय काव्य प्रतिभा एवं व्यापक काव्य संवेदना फलक के नाते ईसुरी को लोककाव्य के संकीर्ण दायरे से बाहर निकालकर हिंदी की मुख्य धारा में शामिल करना हमारा अभीष्ठ है।''

बोलियों के साहित्य के प्रति एक प्रकार की उपेक्षा ही कही जाएगी कि जब हिंदी का अभिजात्य संसार महाकवियों की जन्मशताब्दी

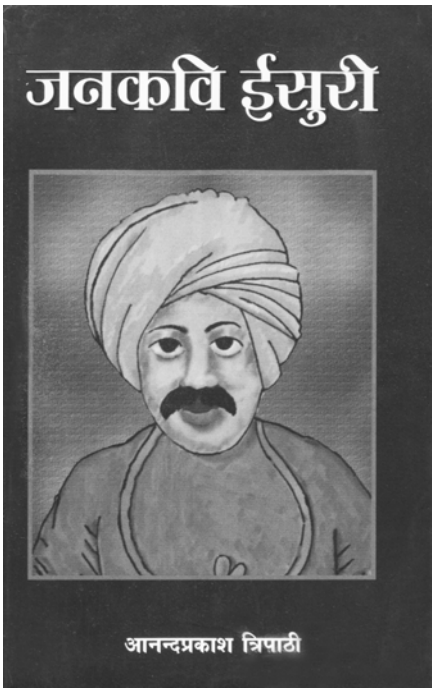

मनाने में मशगूल रहा, ईसुरी की पुण्य शताब्दी (2009) कब बीत गई, पूरा हिंदी क्षेत्र इससे अनजान ही रहा। इस पुस्तक का समर्पण 'ईसुरी' पत्रिका के संपादक कांति कुमार जैन को उचित ही है, क्योंकि यह पुस्तक ईसुरी पत्रिका के 17वें अंक से प्रेरणा ग्रहण कर तैयार की गई है। पुस्तक में शामिल लेख 'जनकवि ईसुरी : प्रासंगिकता के नए संदर्भ' में कांति कुमार जैन ने लिखा है कि 'ईसुरी हिंदी काव्य की मुख्य धारा से कटे हुए कवि माने जाते हैं। ब्रजभाषा चार-पांच सौ वर्षों तक हिंदी कविता की मुख्य धारा की वाहक रही। बुंदेली को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ... ईसुरी को हमें फिर से नए संदर्भों से पढ़ने, समझने और परखने की आवश्यकता है। हिंदी कविता की प्रकृतिवादी प्रवृत्तियों का जब इतिहास लिखा जाएगा और उसे आधुनिकता के द्वार तक पहुंचाने वाले कवियों की प्रावीण्य सूची तैयार की जाएगी, तब ईसुरी को भूलना या छोड़ना उनके साथ अन्याय होगा।' कहना न होगा कि यह पुस्तक इतिहास की उस गलती का सही रेखांकन करने की महत्त्वपूर्ण पहलकदमी के साथ ही ईसुरी के नव मूल्यांकन का विनम्र प्रयास भी है।

इसी साल 'लोकप्रिय संस्कृति का द्वंद्वात्मक समाज शास्त्र—संदर्भ : बिदेसिया' (लेखक—चंद्रशेखर) नाम से एक और महत्त्वपूर्ण पुस्तक लोक काव्य और लोक संस्कृति की उस ताकत को समझने के लिहाज से महत्त्वपूर्ण है, जिसमें समुदाय विशेष की भावनाएं एक लेखक विशेष की कलम(?) से लोकभाषा के भीतर साकार हो उठती हैं। साथ ही अभिव्यक्ति पाती हैं लोक के भीतर संचित प्रतिरोध की वे स्वरलहरियां, जिन्हें जड़ किस्म की सामाजिक संरचना में अभिव्यक्ति के सहज अवसर नहीं

मिलते। यही लोक की सामर्थ्य है। लोक को हमेशा हाशिये पर रखने का तर्क उसकी सहजता और खरेपन के भीतर से निकाल लिया जाता है, जबकि अभिव्यक्ति की अनगढ़ता को साहित्यिक मानदंडों से खारिज कर दिया जाता रहा है, जबकि महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह लोक ही है, जो एक वृहतर यथार्थ को उसकी पूरी विविधता के साथ सहेजता और अभिव्यक्ति देता है और अगर स्थानीयता के तर्क से ही लोक अभिव्यक्तियों को नजरंदाज किया जाना है तो पूरा भक्ति काव्य आंदोलन आखिर हिंदी का स्वर्ण युग क्यों है? इसके कई जवाबों में एक यह भी अनिवार्य रूप में शामिल होगा कि अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति की उस विविधता के कारण, जिसके स्रोत लोकजीवन के प्रति उसके गहरे अनुराग में निहित हैं।

ईसुरी के मूल्यांकन की कोशिशों में 'ईसुरी की काव्य प्रेरणा और रचना प्रक्रिया' (नर्मदा प्रसाद गुप्त) शीर्षक लेख में इस बात की ओर उचित ध्यान दिलाया गया है कि लोक साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में 'सारी भ्रांतियां लोक काव्य को बहुत प्राचीन और स्थिर मानने से पनपी हैं।' भक्ति और प्रेम संबंधी विचार ईसुरी की फागों में ऐसे ही अभिव्यक्ति पाते हैं, जैसे विद्यापति और संत भक्त कवियों के यहां, राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपने महत्त्वपूर्ण लेख में ईसुरी की कविताओं की व्याख्या के माध्यम से और भवभूति के साथ उनकी तुलना करके बताया है कि 'कवि के साक्षात कविता में उतरने की घटना न रीतिकालीन कविता में होती है, न प्रायः प्रेम के विषय पर लिखी आजकल की कविता में, कबीर और तुलसी अपने हर दोहे में अपने कवि को अपने से अलग कर अपने नाम की दुहाई के साथ कुछ संदेश हमें देते हैं। लोक काव्य के अनेक कवि ऐसा करते हैं, पर जिन कविताओं में ऐसा होता है, वे प्रेम और घनीभूत वैयक्तिक वेदना की कविताएं नहीं हैं। प्रेम और वेदना के छंद में ईसुरी का कबीर की तर्ज में यों उतरना यह जाहिर करता है कि वे अलग बानगी के कवि हैं। प्रसंगवश याद आ रही है आज की प्रेम कविता पर आशुतोष कुमार की यह टिप्पणी, 'क्रांति और प्रेम की सबसे प्रिय कविताएं पढ़ते हुए अब कभी-कभी ऐसी कैफियत तारी होती है, जैसी 'राम की शक्तिपूजा' में विभीषण के शब्द सुनकर राम पर हुई थी, 'जैसे ओजस्वी शब्दों का जो था प्रभाव/उससे न इन्हें कुछ चाव, न हो कोई दुराव/ज्यों हों वे शब्दमात्र—'भाव विचार सब उमड़ते हैं, लेकिन लगता है कि जैसे हम बस शब्दों, वाक्यों, कुछ सुपरिचित खयालों, कुछ प्यारी कल्पनाओं के आवर्तों और गतियों से उद्वेलित भर हो रहे हैं। क्या इन कविताओं ने हमें अधिक क्रांतिकारी य प्रेमप्रवण बनाया? कैसे हमने इन्हें कलेजे से लगाए रखा, लेकिन अपनी गति से बनते गए वही सुविधाखोजी बुर्जुआ, शब्दों के शातिर खिलाड़ी? मैं खुद को यकीन दिलाना चाहता हूं कि यह सब सच नहीं है, कि सत्तर का दशक महज एक कल्पना नहीं थी, कि कविताओं के दिन फिर आएंगे, लेकिन संशय है कि 'शक्तिपूजा' की तरह ही फिर-फिर लौट आता है, जबकि बुजुर्गों में भी कई बार देखता हूं; वही पुराना क्रांतिकारी तेवर, तब अपना यह असमय सठिया जाना और भी अजीब लगता है। पर क्या कीजै?' खैर...

इस पुस्तक की रोचकता बढ़ गई है, पुस्तक के उन आखिरी पन्नों से, जिसमें ईसुरी और उनका नायक 'रजऊ' खुद एक चरित्र की तरह उपस्थित हैं। लोक की छवियों को सिर्फ रचनाकार ही नहीं गढ़ता, बल्कि लोक भी अपने श्रेष्ठ रचनाकारों की छवि रचना करता है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'कही ईसुरी फाग' का अंश और गुण सागर सत्यार्थी रचित नाटक 'यारों इतनो जस कर लीजो' उस छवि रचना के प्रमाण भर हैं। अंत में ईसुरी को याद करते हुए युवा कवि आशुतोष कुमार मिश्र की ये कविता पंक्तियां—

'तुम रच रहे थे कविता/कि,
प्रेम की छवि निरख रहे थे/साध रहे थे चौकड़ियाँ/कि, प्रेमपंथ का चौरा पूज रहे थे/तुम आलाप ले रहे थे/कि, आत्मराग में प्रेम को आवाज दे रहे थे।/सही-सही बताना कवि/तुमने फाग लिखे हैं/कि, 'रजउ' के इंतज़ार के घने वृक्ष लगाए हैं।'

जनकवि ईसुरी/सं. आनंद प्रकाश त्रिपाठी/बुंदेली पीठ, हिंदी विभाग, डॉ. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मूल्य : ` 100

हिन्दी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीच्यूट, आगरा-282005, मो. 09415703379

निवेदन

'पुस्तक-वार्ता' के समीक्षकों से मेरा निवेदन है कि पुस्तक की समीक्षा भेजते समय ठीक से पुस्तक का ब्यौरा दें यथा—पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक का पूरा पता, पुस्तक का मूल्य। मुझे प्राप्त समीक्षाओं को संपादित करने में कठिनाई होती है क्योंकि समीक्षक सावधानी नहीं बरतते। यदि भविष्य में समीक्षक मेरे इस विश्वास की रक्षा करेंगे तो मुझे सचमुच सहूलियत होगी।

—संपादक

प्रेमचंद और प्रगतिशीलों की तानाशाही

कमलकिशोर गोयनका

मधुरेश ने अपनी समीक्षा का शीर्षक दिया है—'गोयनका के प्रेमचंद', जो प्रगतिशील आलोचकों के बांटने-तोड़ने की प्रक्रिया का प्रतीक है। ये अभी तक 'प्रगतिशील प्रेमचंद' के प्रवक्ता हैं, प्रतिष्ठापक हैं और उनका इस प्रेमचंद पर एकाधिपत्य है। इस शीर्षक से वे 'प्रगतिशील प्रेमचंद' के विरुद्ध 'गोयनका के प्रेमचंद' को खड़ा करते हैं तथा प्रेमचंद को विभाजित करने की अपनी दशकों की नीति को ही आगे बढ़ाते हैं। वे अपनी समीक्षा में गोयनका के प्रेमचंद की कोई तर्कपूर्ण व्याख्या नहीं करते और न उसकी 267 पृष्ठों की भूमिका में उसके स्वरूप को ही तलाश करते हैं कि गोयनका प्रगतिशीलों के विपरीत किस प्रेमचंद को खोजते हैं और उसे प्रगतिशीलों की स्थापनाओं के विरुद्ध स्थापित करते हैं।

मधुरेश 'प्रेमचंद : कहानी रचनावली' की समीक्षा में एकदम वामपंथी राजनेता बनकर गोयनका को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भाजपा का सदस्य बना देते हैं और उनकी स्थापनाओं में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चेहरा देखने लगते हैं। विश्व में वामपंथी इसी प्रकार बिना प्रमाण के, बिना तर्कों के अपने विरोधियों का चरित्र-हनन करते रहे हैं। इन्होंने तो महात्मा गांधी तक को नहीं छोड़ा, जो इन वामपंथियों के मत में 'पूंजीपतियों के दलाल', 'हिंदू सांप्रदायिक' एवं 'ब्रिटिश एजेंट' थे। मधुरेश हिंदुस्तानी कम्युनिस्टों का चेहरा देखें, जिन्होंने पाकिस्तान के निर्माण में सहायता की, गांधी-आंदोलन का विरोध किया, चीन के आक्रमण पर देशद्रोह किया और आपातकाल की तानाशाही का साथ दिया। ऐसे विचारों वाले हमारे प्रगतिशील लेखक उच्चतम भारतीय नागरिक हैं तथा अपने देश एवं संस्कृति से प्रेम करने तथा कई दिशाओं में समाज-सेवा करने वाली संस्था 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' निकृष्टतम है, यह कौन-सा न्याय है? आप 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' की हिंदू-नीति के विरोधी और आलोचक हो सकते हैं और यह आपका लोकतांत्रिक अधिकार है और इसी प्रकार मेरे जैसे करोड़ों भारतीय हिंदुस्तानी कम्युनिस्टों और प्रगतिशीलों की भारत-विरोधी नीति के विरुद्ध हो सकते हैं, अतः किसी लेखक को 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' से सहानुभूति रखने पर उसे गाली की तरह इस्तेमाल करने का हक किसी को नहीं है। मधुरेशजी को गलतफहमी है कि प्रेमचंद पर लिखने-शोध करने का अधिकार केवल प्रगतिशीलों को है, प्रेमचंद पर सबका अधिकार है, क्योंकि प्रेमचंद सबके हैं, उन्हें 'प्रगतिशील' अथवा 'गोयनका' के कठघरे में बांधना उनके प्रति अन्याय है।

मधुरेशजी ने अपनी समीक्षा में प्रेमचंद की मेरी दुर्लभ सामग्री को खोजने तथा अमृतराय की परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए मेरी प्रशंसा की है, लेकिन उनका कष्ट यह है कि मार्क्सवादी आलोचकों ने लंबे आलोचनात्मक संघर्ष के बाद प्रेमचंद की एक प्रगतिशील मूर्ति गढ़ी है, गोयनका उस छवि का ध्वस्त करते हैं। मधुरेशजी बिलकुल सही कहते हैं कि मार्क्सवादियों ने प्रेमचंद की प्रगतिशील मूर्ति गढ़ी है, उसे काट-छांट कर बनाया है और इसके लिए प्रगतिशीलों ने उनकी वास्तविक मूर्ति का अंग-भंग कर दिया है। मैं भी यही कहता हूं तो मधुरेशजी मुझ पर 'समग्रता' में देखने के मेरे प्रस्ताव में शरारतपूर्ण आग्रह देखते हैं। बड़ा ही विचित्र प्रगतिशील तर्क है कि प्रेमचंद को समग्रता में देखने-पढ़ने के प्रस्ताव में शरारत नजर आती है। मैं मधुरेशजी का भय समझता हूं। वे प्रेमचंद को समग्रता में पढ़ेंगे, मूल्यांकन करेंगे तो प्रेमचंद की प्रगतिशील मूर्ति ताश के पत्तों की तरह बिखर जाएगी। मधुरेश और उनके प्रगतिशील साथी-लेखक प्रेमचंद की कुल तीन-चार प्रतिशत रचनाओं के आधार पर निर्मित प्रगतिशील मूर्ति को कब तक कायम रख सकते हैं? प्रेमचंद की इतनी कमजोर बुनियाद पर निर्मित प्रगतिशील मूर्ति की छवि को ध्वस्त करने की जिम्मेदारी उसका निर्माण करने वाले मार्क्सवादियों की है, जो बालू की मूर्ति को पत्थर की मजबूत मूर्ति के रूप में प्रचारित करते रहे हैं। इस कमजोर बुनियाद का यह भी कारण है कि यह मूर्ति प्रेमचंद के साहित्य-दर्शन के विरुद्ध बनाई गई है।

प्रेमचंद ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' के उद्घाटन-भाषण में कहा था कि 'प्रगतिशील' शब्द निरर्थक है, क्योंकि लेखक स्वभाव से प्रगतिशील होता है। प्रेमचंद के प्रगतिशील आलोचक प्रेमचंद की धारणा के विरुद्ध 'प्रगतिशील' शब्द का प्रयोग करते हैं और उसे

लेखक की स्वभावगत प्रवृत्ति न मानकर; उसे मार्क्सवादी चेतना का पर्याय बना देते हैं। प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है, जबकि इन प्रगतिशीलों ने साहित्य के आगे राजनीति को स्थापित कर दिया और साहित्य की मशाल हिंसक क्रांति की मशाल बन गई। प्रेमचंद ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का साहित्य-दर्शन दिया और जीवन को समग्रता में देखा, परंतु प्रगतिशीलों ने इसका अंग-भंग करके 'आदर्श' को काटकर फेंक दिया और यथार्थ को प्रेमचंद का पर्याय बनाकर उन्हें यथार्थवाद तक सीमित कर दिया। इन प्रगतिशीलों ने इसकी परवाह नहीं की कि प्रेमचंद के यथार्थवाद पर क्या विचार थे। हमारे प्रगतिशीलों ने प्रेमचंद के इस विचार-दर्शन की भी उपेक्षा की कि साहित्य मनुष्य का संस्कार करता है, उसका परिष्कार करता है और मनुष्य में छिपे देवत्व का उद्घाटन करता है। प्रेमचंद की इतनी उपेक्षा तथा उनके विचारों के ऐसे मान-मर्दन के बावजूद प्रगतिशील आलोचक स्वयं को प्रेमचंद का असली दावेदार कहते हैं। प्रेमचंद के दावेदार अथवा उनके वारिस प्रगतिशील लेखक व आलोचक नहीं हैं, बल्कि वे हैं, जो प्रेमचंद के उपरोक्त विचारों में (यहां स्थानाभाव के कारण उनके देशभक्ति, संस्कृति एवं स्वत्व-बोध, मानवीयता एवं भारतीयता संबंधी विचारों को उद्धृत नहीं किया गया है) उनकी आत्मा तथा भारतीय आत्मा के दर्शन करते हैं। मधुरेश यह मानते हैं कि प्रेमचंद अंततः आदर्शवाद से मुक्त नहीं होते, लेकिन वे अपने प्रगतिशील साथियों को यह क्यों नहीं समझाते कि प्रेमचंद मूलतः आदर्शवादी थे, पर उनमें ऐसा साहस नहीं है। वे यह भी लिखते हैं कि प्रेमचंद का यथार्थवाद की दिशा में किया गया निर्णायक संघर्ष कम नहीं हो जाता, लेकिन वे यह नहीं बताते कि प्रेमचंद आदर्शवादी होने पर यथार्थवाद के लिए निर्णायक संघर्ष क्यों करते हैं तथा वे यह भी नहीं बताते कि किन कहानियों-उपन्यासों के आधार पर इस संघर्ष की परीक्षा की जाए। प्रेमचंद वास्तव में आदर्शवाद के लिए, मनुष्य में देवत्व की खोज के लिए निर्णायक संघर्ष करते हैं। मधुरेश को चाहिए कि वे 'रहस्य' कहानी को देखें, जो 'महाजनी सभ्यता' लेख के साथ 'हंस' के सितंबर, 1936 में छपी है। मधुरेश मेरे इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते कि कथाकार प्रेमचंद की वसीयत उनकी कहानी या उपन्यास में देखी जानी चाहिए या लेख में?

मधुरेशजी ने समतामूलक समाज की स्थापना का श्रेय मार्क्स को न देकर, हजरत मुहम्मद को देने पर आपत्ति की है। खेद है, वे बड़े पढ़ाकू हैं, पर रचनावली की भूमिका को ठीक प्रकार से पढ़ नहीं पाए। यह श्रेय मैंने नहीं, प्रेमचंद ने दिया है और उनके ये विचार उनके लेख 'इस्लामी सभ्यता' में मिलते हैं। मधुरेश ने 'हिंदू' तथा 'भारतीयता' की भी चर्चा की है, पर वे विस्तार में नहीं जाते और आरोप लगाकर आगे बढ़ जाते हैं।

मधुरेश की ये टिप्पणी समीक्षक मधुरेश की नहीं, कम्युनिस्ट मधुरेश की है। मेरे विकास को भाजपा तथा रा. स्वयंसेवक संघ की हिंदुत्ववादी शक्तियों से जोड़ना शुद्ध राजनीतिक पैंतरेबाजी है। मधुरेश मानते हैं कि मैं चार दशकों से जुनूनी बनकर प्रेमचंद पर काम कर रहा हूं तो यह जुनून किसी पार्टी ने मुझे नहीं दिया है और न किसी पार्टी ने (जैसे कि डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद पर काम करने की अनुमति कम्युनिस्ट पार्टी से ली थी) मुझे प्रेमचंद पर शोध करने का आदेश ही दिया है। प्रेमचंद पर शोध-कार्य के बाद मैं प्रेमचंद के प्रति समर्पित होता गया और आज तक इस समर्पण में कोई कमी नहीं आई है। प्रेमचंद पर कार्य करने के आरंभ से ही मुझ पर अनेक आरोप-लांछन ये प्रगतिशील लगाते रहे हैं। इनमें मलयज, सुधीश पचौरी, शिवकुमार मिश्र, गोपाल राय, कुंवरपाल सिंह, वेणु गोपाल, नामवर सिंह आदि की तो मुझे याद है।

और अंत में, मधुरेश ने अपनी समीक्षा में कोई नई बात नहीं कही है, वही बातें, जो दशकों से प्रगतिशील मेरे विरुद्ध कहते रहे हैं। उन्होंने रचनावली की भूमिका में उठाए गए नए मुद्दों पर कोई चर्चा नहीं की, जैसे उन पर चर्चा करते ही वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य बन जाते, उसी तरह जैसे डॉ. नामवर सिंह ने वेदों पर कार्य करने पर डॉ. रामविलास शर्मा को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सदस्य बना दिया था। प्रगतिशील आलोचना जड़ हो गई है और अपनी रूढ़ियों में फंसी है। ये प्रगतिशील आलोचक प्रेमचंद की मेरी व्याख्याओं से व्यथित हैं, क्योंकि मेरे शोध से उनकी अधिकांश धारणाएं धूल-धूसरित हो गई हैं, क्योंकि वे मिथ्या अवधारणाएं थीं और वामपंथी राजनीति का अंग थीं। उनकी झूठी सचाइयों के चेहरे से पर्दा उठना ही था। मैं नहीं उठाता तो कोई दूसरा उठाता, जो प्रेमचंद में रमता, उन्हें अपना जीवन देता और सत्यासत्य से परिचित कराता। डॉ. शिवकुमार मिश्र ने, जो प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक हैं, आज से लगभग 32 वर्ष पहले अमृतसर की एक गोष्ठी में कहा था कि हमारी तकलीफ यह है कि गोयनका ने प्रेमचंद पर क्यों काम किया, हमने क्यों नहीं किया। यह वेदना मधुरेश की समीक्षा में छाई हुई है। मैंने तब कहा था और फिर कहता हूं कि प्रेमचंद पर मेरा कोई एकाधिकार नहीं है। मधुरेशजी तथा उनके प्रगतिशील साथी आगे बढ़ें, आधी शताब्दी दें और प्रेमचंद पर शोध शुरू करें। कौन रोकता है उन्हें? हो सकता है, वे ऐसे प्रेमचंद को खोज लें, जिससे हम अब तक परिचित न हों। प्रगतिशीलों की अब तक की उपेक्षा क्या दर्शाती है? प्रेमचंद की दावेदारी के लिए प्रेमचंद के साथ मीलों चलना पड़ेगा, सैकड़ों-हजारों घंटे लाइब्रेरियों की धूल खानी पड़ेगी और प्रकाशक की खुशामद करनी पड़ेगी। यह कार्य प्रगतिशीलों का नहीं है, इसके लिए जुनून चाहिए। एक बात और, मधुरेश ने लिखा है कि मैंने 'नाम और नामा' खूब प्राप्त किया है। यह सच है, देश-विदेश से मुझे ख्याति मिली है, जिसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। इसमें प्रगतिशीलों का योगदान कम नहीं है। प्रगतिशीलों के विरोध ने भी मुझे प्रसिद्धि दी, पर 'नामा' अर्थात् धन मिलने का सवाल है, प्रगतिशील सदैव स्वयं को निर्धन तथा दूसरे को धनी बताते हैं। मुझे केवल भारतीय ज्ञानपीठ तथा साहित्य अकादेमी से रायल्टी मिली, पर वह कोई लाखों में नहीं थी। मधुरेश को यह सोचना चाहिए कि पचास वर्षों में मैंने पत्र-व्यवहार, यात्रा, होटल, फोटोकापी आदि में कितना व्यय किया होगा। प्रगतिशील लेखकों के शोषण पर शोर मचाते हैं, पर उन्हें गोयनका का शोषण दिखाई नहीं देता।

मधुरेश ने अभी तक प्रेमचंद को प्रगतिशीलता के चश्मे से देखा है। वे उन्हें भारतीयता की दृष्टि से देखें तो वे भी मेरी तरह प्रेमचंद की आत्मा के दर्शन कर सकेंगे।

ए/98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052, मो. 9811052469

दिव्या माथुर की कहानी 'पंगा' का अंतर्पाठ

साधना अग्रवाल

कहानी क्या, कहना चाहिए कि साहित्य की असली जमीन हमारा जीवन होता है। लेकिन यही साहित्य अनेक अनुभवों से निसृत होकर हमारे जीवन को भी गहराई से प्रभावित करता है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि धीरे-धीरे हमारी मरती हुई संवेदना को पुनर्जीवित करते हमें मनुष्य बनाता है। कभी आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कथा साहित्य में यथार्थ के आतंक की चर्चा की थी। हिंदी साहित्य में यथार्थवाद को लेकर अनेक भ्रम और भ्रांतियां फैली हुई हैं लेकिन अच्छी बात यह है कि अब धुंध छट गई है और कथा साहित्य से यथार्थ का मुलम्मा उतर गया है। वर्षों पूर्व रवीन्द्र कालिया द्वारा संपादित 'वागर्थ' का दिसम्बर, 2005 अंक युवा पीढ़ी विशेषांक था, जिसमें पत्रिका में प्रकाशित कहानियों पर काशीनाथ सिंह का लेख 'यथार्थ का मुक्ति संघर्ष : नई सदी की कहानी' में उन्होंने लिखा था, 'कहानी को यदि जीवित और आकर्षक बनाए रखना है तो यथार्थ से मुक्ति हमारी रचनात्मक आवश्यकता है। ...हम यह मानकर चलें कि यथार्थ कहानी नहीं होता, कहानी में यथार्थ होता है। यथार्थ से छेड़छाड़ के बिना गद्य तो संभव है, गल्प नहीं।'

प्रवासी लेखिकाओं में सबसे महत्वपूर्ण उषा प्रियंवदा हैं लेकिन उस अर्थ में उन्हें प्रवासी नहीं कहा जा सकता क्योंकि साहित्य में उनकी पहचान 'पचपन खंभे और लाल दीवारें' 'शेष यात्रा', रुकोगी नहीं राधिका' जैसे उपन्यास तथा 'वापसी' जैसी कालजयी कहानी से अमेरिका में बसने से पूर्व बन चुकी थी। लेकिन अन्य प्रवासी लेखिकाओं की पहचान उस तरह नहीं बनी। अधिकांश प्रवासी लेखिकाओं की रचनाओं के केन्द्र में एक ओर पीछे छूटे हुए अतीत की स्मृतियां हैं तो दूसरी ओर बिल्कुल अलग तरह का समाज, उसकी संस्कृति और व्यावहारिक दिक्कतें हैं, छोटी-बड़ी समस्याएं तो हैं ही। फिर प्रवासी देश के लोगों की मानसिकता है जिसमें रचने-बसने में समय लगता है। चूंकि हम अपने को मूलतः बदल नहीं सकते इसलिए भी नए यथार्थ से हमारी टकराहट होती रहती है। दूसरी बात यह भी है कि यह टकराहट दो स्तरों पर होती है एक मानसिक स्तर पर और दूसरे पारिवारिक स्तर पर। दिव्या माथुर का लेखन काल बहुत अधिक नहीं है। कविता से अपना लेखन आरंभ कर वे कहानी की ओर मुड़ीं। अब तक उनके दो-तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'नीली डायरी' कहानी बेहद चर्चित रही है लेकिन उस पर गार्बियल गार्सिया मार्खेज के प्रसिद्ध उपन्यास 'द मेलन कली हवोर्स (The melancholy whores) का अप्रत्यक्ष प्रभाव का आरोप है क्योंकि इस उपन्यास में औरतों से उनके शारीरिक संबंध की तिथियां दर्ज हैं। 'वर्तमान साहित्य' के 'प्रवासी साहित्य महाविशेषांक-1' में दिव्या माथुर ने अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में लिखा है, '70 के दशक में 'नवभारत टाइम्स' ने एक के बाद एक मेरी दो कहानियां छापीं। बहुत से लोगों को लगा कि मैं उनकी पोल खोल रही थी जबकि मैंने किसी को अपनी कहानी का आधार कभी नहीं बनाया। खैर तभी मुझे एक फिल्म के सिलसिले में भारत छोड़ के डेन्मार्क जाना पड़ा। फिल्म तो नहीं बनी पर वहां से मैं लंदन आ गई और यहीं बस गई। पश्चिम में कमाना और दो बच्चों की अकेले परवरिश करना एक ऐसा संघर्ष था जिससे जूझते दस वर्ष तो यूं गुजर गए जैसे कैलेंडर पर तारीखें भाग रही हों। 1989 में मैंने फिर से कविताएं लिखना शुरू किया क्योंकि कहानी लिखने के लिए समय तब भी नहीं मिल रहा था।'

इस तरह दिव्या माथुर लेखन की ओर प्रवृत्त हुईं। प्रवासी साहित्य पर केन्द्रित पत्रिकाओं के अनेक विशेषांकों में उनकी अनेक कहानियां प्रकाशित हुई हैं जिनकी छिटपुट चर्चा भी हुई है। 'नया ज्ञानोदय' में पूर्व प्रकाशित दिव्या माथुर की कहानी 'पंगा' को 'बेस्ट ऑफ नया ज्ञानोदय' के उपहार अंक जनवरी 2012 में पुनर्प्रकाशित किया गया है। एक बहुत छोटे से कथ्य पर टिकी यह कहानी लंदन के ट्रैफिक जाम में फंसी रहती है, सरकती बहुत कम है। लंदन में बसा भारतीय मूल का एक छोटा परिवार है जिसमें एक औरत पन्ना है तथा उसका बेटा आदित्य एवं बहू आशिमा है। इस कहानी के केन्द्र में पतझर, ट्रैफिक जाम और अस्पताल है। यद्यपि कहानी में कारों की नंबर प्लेट खूब चमकती हैं लेकिन बुरी तरह से ट्रैफिक जाम में फंसी कारें धीरे-धीरे सरकती हैं। कहानी के बीच में फ्लैश बैक की तरह घर-परिवार की स्मृतियां जब-तब उभरती हैं। इस कहानी में जो नयापन है, वह है कहानी का शिल्प और कथ्य। कार के नंबर प्लेट से शब्द की रचना और उस शब्द से उसके ड्राइवर या मालिक के रूप-रंग, चरित्र और उसकी मानसिकता का वर्णन करना।

कहानी का आरंभ भी कार से होता है—'एक नयी नवेली दुल्हन-सी एक बी.एम. डब्ल्यू. पन्ना के पीछे लहराती हुई सी चली आ रही थी, जैसे दुनिया से बेखबर एक शराबी अपनी ही धुन में चला जा रहा हो या कि जीवन से उबकर किसी चालक ने स्टेयरिंग व्हील को उसकी मर्जी पर छोड़ दिया हो। उसकी कार का नंबर था 'आर 4 जी एच यू', जो पढ़ने में 'रघु' जैसा दिखता था। 'स्टुपिड इडियट' कहते हुए पन्ना चौकन्नी हो गई। 'रघु' साहब कहीं उसका राम नाम ही न सत्य कर दें। दुर्घटना की संभावना को कम करने के लिए पन्ना ने अपनी कार की गति धीमी कर ली और अपने बीच के फासले को बढ़ा लिया।' आपने देखा कि 'आर 4 जी एच यू' से 'रघु' कैसे बना। अस्पताल जाती हुई ट्रैफिक जाम में फंसी पन्ना का ध्यान अगली कार की नंबर प्लेट पर जाता है और खिलंदड़े अंदाज में पन्ना उस नंबर प्लेट से छेड़छाड़ करती हुई पहली नजर में अक्षरों और अंकों की परछाईं से शब्द बनने का जो आभास होता है, से शब्द बनाती है। पन्ना चली तो है अस्पताल जाने के लिए मगर ट्रैफिक जाम में बुरी तरह फंसी

हुई है। उसे डर है कि ठीक समय पर वह अस्पताल नहीं पहुंच सकेगी। 'किन्तु अस्पताल समय पर नहीं पहुंची तो पन्ना को दूसरा एपाइंटमेंट न जाने कब मिले। उसके माथे के बीचों-बीच एक गिल्टी निकल आई है, जिसे लोगों से छिपाना नामुमकिन है। जो भी देखता है, अपनी राय देने से नहीं चूकता, ''पन्ना, सब काम छोड़कर इसकी जांच करवा लो। हो सकता है कुछ भी न हो, बट...।'' इस 'बट' से वह स्वयं भी परेशान रहती है। डॉक्टर बड़ी मुश्किल से उसे विशेषज्ञ के पास भेजने को राजी हुआ था।'

लंदन की सड़कों पर ट्रैफिक जाम का आलम यह है कि रोडरेज की घटनाएं प्रायः घटती रहती हैं। एक्सीडेंट भी होता है और ट्रैफिक नियम का उल्लंघन करने पर काफी भारी जुर्माना भरना पड़ता है पाउंड में, यह अलग मुसीबत है। लेकिन काम की हड़बड़ी में कारों के ड्राइवर एक-दूसरे को गालियां देते आगे बढ़ते रहते हैं। भारत से लंदन की ट्रैफिक स्थिति थोड़ा भिन्न है। एक ही सड़क पर ऑटोमैटिक और मैनुअल दोनों कारें चलती हैं। पन्ना कार चला रही है। बहू आशिमा का मानना है कि पन्ना के 'मूड' खराब रहने का कारण उसका लंदन में ड्राइविंग करना है। पन्ना को डबलरोटी भी खरीदनी हो तो वह कार में ही जाती है और क्यों न जाए, इंग्लैंड में ड्राइविंग टेस्ट पास करना कोई मजाक नहीं है, वो भी पहली बार में। आदित्य और आशिमा दोनों ही तीन बार में जाकर पास हुए थे।'

कहानी में एक प्रसंग है कि बेटा आदित्य पन्ना के साथ कार में दफ्तर जाता है और आदित्य ने एक खेल ईजाद किया था जिसमें अपने आसपास की कारों की नेमप्लेटों के शब्दों और अंकों को जोड़कर शब्द बनाने होते थे। कई अंकों का स्वरूप अक्षरों जैसा होता है इसलिए उनका उपयोग अक्षरों की तरह किया जा सकता है। जैसे कि चार का अंक 'ए' जैसा लगता है, पांच 'एस' जैसा और छः 'ई' जैसा दिखता है। वैसे भी तो मनुष्य का दिमाग भी क्या-क्या गुल खिलाता है। इस तरह पन्ना 'एल 6 जे आई 8' से (लिजिट), 'पी 4 जीएलए' से (पगला), 'बी 14 आर एल ए' से (बिरला), 'पी 6 एन ई एस' से (पीनस), 'सी 11 एम ए एन' से (चमन), 'पी 8 डब्ल्यू ई आर' से (पॉवर), '5 वन आर' से (सर), 'डी 4 एन टी ई' से (डांटे), 'के ए 30 एफ आ आर' से (काफिर) आदि मजेदार शब्द बनाती है।

इस कहानी को पढ़कर लगता है कि लंदन की सड़कों की हालत भारत की सड़कों जैसी ही है। सड़कें संकीर्ण तथा गलियां तंग हैं। यही नहीं सड़कों पर जहां-तहां गड्ढे भी हैं। स्पष्टतः यह भ्रष्टाचार का नमूना है क्योंकि 'लोग इन्हीं गड्ढों के बहाने काउंसिल से काफी पैसा ऐंठते हैं। गड्ढे के कारण हुए अपने पहिए के नुकसान को पूरा करने के लिए वह भी काउंसिल को लिखेगी। पहिया तो किसी तरह निकल गया किन्तु पन्ना की बड़बड़ जारी थी, 'जो सरकार लंदन का परिवहन नहीं संभाल पा रही वो ओल्पिंक्स का ट्रैफिक कैसे संभाल पाएगी। जिधर जाओ सड़कें खुदी पड़ी हैं और कारीगर नदारद।'

इंग्लैंड जैसे देश को बहुत सभ्य और शिक्षित समझा जाता है लेकिन उसकी मानसिकता एक बहुत पिछड़े देश जैसी है और भ्रष्टाचार भारत से कम नहीं है। भारत पर जब ईस्ट इंडिया कंपनी का राज था तो भ्रष्टाचार को लेकर बारेन हेस्टिंग्स पर लंदन में महाभियोग चलाया गया था क्योंकि अवध को लूटकर उसने काफी पैसा कमाया था। ऐसा लगता है कि वहां अब भी भ्रष्टाचार कम नहीं है।

ट्रैफिक जाम में फंसी हुई पन्ना अपनी कार से आगे जाने वाली हर कार की नंबर प्लेट पर तो ध्यान रखती ही है बल्कि अपनी सैंकेड क्लास फिएट से तेज रफ्तार से गुजरती दूसरी कार का मुकाबला करने की कोशिश भी करती है। 'हाउ डेयर ! सरकारी स्कूल से पढ़ी एक मिडिल क्लास की मिडिल ऐज्ड अवकाश प्राप्त अध्यापिका, जिसने एक मिडिल क्लास सरकारी नौकर से विवाह किया, दो बच्चे पैदा किए, जो उसे जब-तब सुनाने में संकोच तक नहीं करते कि वे पैदा हुए कि उन्हें अपनी सेक्स की भूख बुझानी थी, जिसका पति अब एक जवान पड़ोसन के साथ खुल्लम-खुल्ला रहने लगा था, जिस औरत ने बच्चों को वे सब सुविधाएं दीं जो वह स्वयं कभी भोग नहीं पाई, जो तीन कमरों के मकान में अकेली रह रही है, रिटायर होने के बाद जिसे पेंशन के अतिरिक्त यातायात पास, स्वास्थ्य संबंधी सुविधाएं मुफ्त में मिलने लगी हैं, बच्चों को अब जिसकी आवश्यकता नहीं रही, जो समय बिताने के लिए एक चैरिटी के लिए काम करती है और सोचती है कि इस जीवन का औचित्य आखिर है क्या!' पन्ना की दो सहेलियां भी हैं—पुष्पा और चांदनी, जिनसे वह अपने सुख-दुख बांट लिया करती है।

ट्रैफिक जाम में फंसी पन्ना के 'के ए 30 एफ आ आर' (काफिर) मानो हाथ धोकर उसके पीछे ही पड़ गए थे, जिसमें तीन अफ्रीकन युवक और एक युवती बैठे थे, जो बेकार में मुस्कराए जा रहे थे। शायद सभी पिए हुए थे। गोरों से अधिक पन्ना को सदा अफ्रीकंस से अधिक भय लगता है। ऊपर से गाड़ी का पेट्रोल खत्म होने जा रहा था। उसे डर लग रहा था कि यदि वह काफिर की पकड़ में आ गई तो उसका भगवान ही मालिक था। उसने सुना था कि अफ्रीकन और गोरे गुंडे एशियन, विशेषतः भारतीय महिलाओं को लूटना आसान समझते हैं। तभी एक रोल्फ रॉयस ने ओवरटेक किया, जिसका नंबर था वी 1 पी वी टी (वेरी प्राइवेट)। पन्ना ने सोचा कि यह कार अवश्य किसी बड़े आदमी की होगी। यदि इसका ध्यान आकर्षित किया जाए तो अवश्य बचा जा सकता है किन्तु इस कार के मालिक से पंगा लेना मंहगा भी पड़ सकता था।' लेकिन यहां भी मनुष्यता बची हुई है और वेरी प्राइवेट पन्ना की मदद करता है और सांत्वना देता पन्ना से पूछता है, 'हे लेडी, आर यू आल राइट?' इस तरह इस कहानी का अंत होता है।

दरअसल यह कहानी लंदन के ट्रैफिक जाम में फंसी कार की तरह ठहरी हुई है। कहानी इतना धीरे-धीरे आगे बढ़ती है कि पाठक में उब पैदा होने लगती है आखिर पाठक को कोई कब तक नंबर प्लेट से बनाए गए शब्दों से खिलवाड़ करता बहलाता रहेगा। ऐसा लगता है कि पन्ना महीनों क्या वर्षों से ट्रैफिक जाम में फंसी हुई है। निकली तो थी वह अस्पताल जाने के लिए लेकिन न अस्पताल पहुंचती है और न घर वापस लौटती है, बस ट्रैफिक जाम में अटकी रहती है। लेकिन एक बात पर गौर करने की जरूरत है कि इस कहानी में कोई ऐसा बिंदु है जिस पर ध्यान देने की जरुरत है। कहानी का कथ्य छोटा है लेकिन उसमें एक नयापन अवश्य है। दूसरी बात जो पाठकों को चौंकाती है, वह यह है कि लंदन के प्रति हमारे मन में जो एक सम्मोहन है उसको एक झटके के साथ यह कहानी चकनाचूर कर देती है। वस्तुतः इस कहानी का यथार्थ लंदन की सड़कों पर ट्रैफिक जाम में फंसे लोगों की भयानक यंत्रणा नहीं है बल्कि असली यथार्थ लंदन जैसे शहर की सड़कें हैं जो भ्रष्टाचार के दलदल में फंसी हुई हैं। कहना चाहिए कि लंदन जो हमारे लिए एक मिथक है, उसका यथार्थ है यह कहानी।

बी-19/एफ, दिल्ली पुलिस अपार्टमेंटस, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091, मो. 9891349058

सोनिया गांधी : कुछ कही, कुछ अनकही

अनंत विजय

किसी भी शख्स की जीवनी लिखना एक श्रमसाध्य काम है और अगर कोई लेखक किसी मशहूर हस्ती की जीवनी लिखना शुरू करते हैं तो उनका यह काम उस नट की तरह होता है जो दो खंभे के बीच रस्सी पर एक डंडे के सहारे संतुलन बनाए चलता है। लेखक के हाथ में भी सिर्फ कलम होती है और उसे तमाम तरह के संतुलन बनाकर बेहद सावधानी से चलना होता है। इसकी वजह यह होती है कि मशहूर शख्सियतों के जीवन के बारे में असंख्य लोगों के पास तथ्य होते और वो अनेक जगहों पर फैले होते हैं। लिहाजा जीवनी लेखक को बहुत सावधान रहने की जरूरत होती है क्योंकि एक छोटी सी गलती किताब को संदेहास्पद बना ही देगी लेखक की साख पर भी बट्टा लगाने के लिए काफी होगी। इसके अलावा एक और चुनौती होती है जीवित शख्सियत की जीवनी लिखने के बारे में वो होती है अपने लेखन से प्रामाणिकता हासिल करना। क्योंकि अगर वो अधिकृत जीवनी नहीं होती तो पाठक पहले से ही उसको लेकर थोड़े सशंकित हो जाते हैं। इसलिए जीवनी लेखक के सामने प्रामाणिकता साबित करने की बड़ी चुनौती होती है।

इस बात के लिए रानी सिंह को दाद देनी होगी कि सोनिया गांधी जैसी मशहूर शख्सियत की जीवनी लिखने का साहस उन्होंने किया और बहुत हद तक एक सावधान जीवनी लेखक की भूमिका के निर्वहन में सफलता भी हासिल की है। लंदन की टेलीविजन पत्रकार रानी सिंह का कहना है कि सोनिया गांधी की जीवनी लिखने का प्रस्ताव प्रकाशक मैकमिलन की तरफ से आया। उस प्रस्ताव के पीछे की सोच यह थी कि विश्व की सबसे शक्तिशाली महिलाओं में शुमार सोनिया गांधी के बारे में, उनके बचपन से लेकर जवानी के बारे में, फिर शादी के बाद की घटनाओं से लेकर भारत के प्रधानमंत्री का पद ठुकराने तक की कहानी से पश्चिमी देशों के पाठकों के लिए अनजान थी। प्रकाशक चाहते थे कि सोनिया की शख्सियत और उसके इटली से भारत आने और फिर यहां की राजनीति में शीर्ष पर पहुंच जाने की अनकही कहानी पश्चिमी देशों के पाठकों के सामने आए। इसी सोच और योजना को लेकर रानी ने सोनिया गांधी की जीवनी पर काम करना शुरू किया। काश! हिंदी के प्रकाशक भी ऐसा कुछ सोच लेते।

दरअसल सोनिया गांधी की जिंदगी की कहानी बेहद दिलचस्प और दुखद-सुखद घटनाओं का ऐसा कोलाज है जिसके बारे में

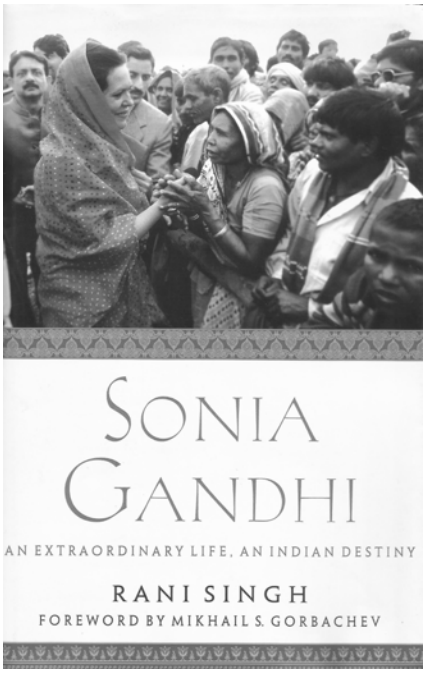

जानने की चाहत हर किसी के मन में हो सकती है। भारत के प्रधानमंत्री का पद ठुकराने के बाद तो उनका कद बहुत ज्यादा बढ़ गया और उसके साथ ही सोनिया के बारे में जानने की उत्सुकता भी बढ़ी। इटली के एक छोटे से शहर लुसियाना, जिसकी आबादी महज तीन हजार थी, की एक छोटी सी लड़की वाया इंगलैंड किस तरह से दिल्ली पहुंचकर विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र का सबसे अहम पद ठुकरा देती है। इस पूरी कहानी को रानी सिंह ने बेहद बारीकी से पकड़ा है और उसका विस्तार से दिलचस्प वर्णन किया है। रानी सिंह की इस किताब में सोनिया की जिंदगी के बहाने इंदिरा गांधी, संजय गांधी, मेनका गांधी के बारे में भी चर्चा की गई है जो कि लाजमी भी है क्योंकि ये लोग सोनिया की जिंदगी में आए और उसमें अहम भूमिका अदा की। सोनिया और राजीव के प्रेम को भी रानी ने होटल में पहली मुलाकात से लेकर दिल्ली में हरिवंश राय बच्चन के घर पर हुई शादी तक एक सूत्र में पिरोया है। सोनिया और राजीव गांधी के बीच का प्यार पहली नजर का प्यार था। किस तरह से दोनों का प्यार परवान चढ़ा, उन दिनों किन-किन मित्रों ने मदद की, इंदिरा गांधी को पहली बार सोनिया और राजीव के बीच प्रेम का पता चला तो उनकी प्रतिक्रिया क्या थी उन सबका बहुत ही विस्तार से वर्णन है। सोनिया और राजीव के बीच प्रेम प्रसंग में एक बेहद दिलचस्प प्रसंग है। जब सोनिया गांधी और राजीव गांधी के बीच का प्यार अंजाम की तरफ बढ़ने लगा तो दोनों ने तय किया कि वो अपने-अपने अभिभावकों को इसके बारे में बताएंगे। सोनिया ने अपने पिता को अपने प्रेमी और उसके देश के बारे में बताया। सोनिया गांधी के पिता की प्रतिक्रिया

बेहद ही दिलचस्प थी। सोनिया गांधी ने अपने पिता स्टीफैनो को अपने और राजीव के शादी करने के इरादे को बताया तो उन्होंने इस रिश्ते पर जोरदार विरोध जताते हुए इंकार कर दिया। सोनिया ने ये बात राजीव गांधी को बताई। पिता के विरोध से तनाव में आई सोनिया और उसके दोस्त राजीव ने तय किया कि राजीव गांधी सोनिया के पिता से मिलने इटली जाएंगे। उसके बाद राजीव गांधी नवंबर 1966 में सोनिया गांधी के पिता स्टीफैनो से मिलने इटली गए। राजीव ने अपने भावी श्वसुर को बातचीत में यह भरोसा दिलाया कि वो सोनिया गांधी को बेइंतहां मोहब्बत करते हैं और उसको बेहद प्यार के साथ रखेंगे। काफी देर की बातचीत और तर्क-वितर्क के बाद सोनिया के पिता स्टीफैनो ने राजीव गांधी के सामने एक बेहद अजीब मगर फिल्मी शर्त रख दी। स्टीफैनो ने राजीव गांधी से कहा कि तुम और सोनिया एक साल तक एक दूसरे से अलग रहो और सालभर के इस अलगाव के बाद भी अगर तुम दोनों को यह लगता है कि दोनों के बीच प्रेम बचा रह गया है तो मैं शादी की इजाजत दे दूंगा। राजीव गांधी ने खुशी-खुशी यह शर्त मान ली। शर्त के मुताबिक राजीव और सोनिया सालभर तक एक दूसरे से अलग रहे। सालभर के इस अलगाव के बाद भी सोनिया और राजीव के बीच का प्यार जरा भी कम नहीं हुआ। सोनिया और राजीव एक दूसरे से बेपनाह मोहब्बत करते थे। इस बात का खुलासा सोनिया गांधी ने अपने एक साक्षात्कार में किया भी है। उन्होंने कहा कि—उन्हें राजीव चाहिए थे, जिसे पाने के लिए वो विश्व के किसी भी कोने में जा सकती थी। लिहाजा सालभर बीतते समय नहीं लगा। दोनों के बीच का प्यार देखकर स्टीफैनो का भी दिल पसीज गया और उन्होंने सोनिया को राजीव गांधी से शादी करने की इजाजत दे दी।

सोनिया दिल्ली पहुंची और 25 फरवरी 1968 को दोनों की शादी हो गई। इस किताब में शादी और उसकी रस्मों के बारे में भी लिखा गया है। शादी के बाद जब सोनिया की मां और उसके रिश्तेदार इटली लौट गए तो सोनिया अपने को अकेला महसूस करने लगी। उस वक्त इंदिरा गांधी ने सोनिया को एक छोटा नोट भेजा—हाय सोनिया, दिस इज जस्ट टू टेल यू दैड वी ऑल लव यू। यहीं से सोनिया

और इंदिरा गांधी के मजबूत और विश्वास भरे रिश्ते की नींव पड़ी और कालांतर में सोनिया गांधी अपनी सास इंदिरा गांधी की सबसे विश्वसनीय सहयोगी बन गईं जिसपर वो बहुत चीजों के लिए आश्रित थीं। सोनिया ने अपनी इसी विश्वास के बूते ना सिर्फ घर संभाला बल्कि तमाम दुखों और तनाव के क्षणों में उन्होंने इंदिरा गांधी को भी संभाला।

सोनिया के जीवन का दूसरा पक्ष बेहद दुख भरा है। शादी के ठीक एक साल बाद सोनिया गांधी मिसकैरिज के दर्द से गुजरी, लेकिन उस दुख और पीड़ा की घड़ी ने सोनिया-संजय और इंदिरा गांधी के रिश्ते को और प्रगाढ़ कर दिया। उस वक्त संजय गांधी ने सोनिया की बहुत ज्यादा देखभाल की थी और उसे इमोशनल सपोर्ट दिया था। परिवार अभी इस दर्द से उभरा ही था और गांधी परिवार सामान्य होने लगा था कि संजय गांधी की विमान दुर्घटना में मौत हो गई। अपने जवान बेटे की मौत के सदमे में इंदिरा गांधी को संभालना और फिर उसके बाद पारिवार के अंदर इंदिरा गांधी और उनकी बहू मेनका के बीच के विवादों के बीच सोनिया भी टूटने लगी थी। किसी तरह संभलती कि 1984 में सास इंदिरा गांधी की हत्या और फिर राजीव की हत्या ने सोनिया की जीवनधारा ही बदल दी। सोनिया के भाग्य में कुछ और ही लिखा था। जो महिला अपने पति को राजनीति में जाने से मना कर रही थी, जो राजीव को प्रधानमंत्री का पद स्वीकारने का विरोध कर रही थी, जिस महिला की कोई राजनीति महत्वाकांक्षा नहीं थी उसके सर राजनीति की अहम जिम्मेदारी आ गई। वो भारत की सबसे बड़ी और पुरानी राजनैतिक पार्टी की अध्यक्ष बनीं। इस दौर में सोनिया के ऊपर विदेशी मूल को होने को लेकर जमकर हमले हुए। उस दौर में सोनिया ने कहा था—आई चूज इंडिया एंड माई कंट्री। आई एम इंडियन, एंड विल रिमेन सो टिल माई लास्ट ब्रेत्थ। इंडिया इज माई मदरलैंड, डियरर टू मी दैन माई ओल लाइफ। उस वक्त सोनिया के प्रधानमंत्री पद संभालने को लेकर भी विवाद हुआ और ये बात फैलाई गई कि राष्ट्रपति अब्दुल कलाम के मना करने के बाद सोनिया ने मनमोहन सिंह के सर पर प्रधानमंत्री का ताज रखा। लेकिन हाल ही में अब्दुल कलाम की किताब टर्निंग प्वाइंट्स से ये बात साफ हो गई कि उक्त बात महज अफवाह थी। कलाम ने साफ कर दिया कि सोनिया से उनकी ऐसी कोई बात हुई नहीं थी।

राजीव की हत्या से लेकर बाद की कहानी भारतीय जनमानस से लेकर पश्चिमी देश के पाठकों के जेहन में ताजा है। उन घटनाओं के अलावा रानी सिंह ने बाद के अध्यायों में सोनिया गांधी की राजनीतिक रणनीति और योजनाओं को सफलतापूर्व संपन्न करवा लेने के उनके सामर्थ्य का विश्लेषण किया है। चाहे वो न्यूक्लियर डील के वक्त सरकार के सामने आया संकट हो या फिर पार्टी के वरिष्ठ नेताओं से निबटने का मामला। रानी सिंह ने अपनी इस किताब में यह लिखा है कि निकट भविष्य में सोनिया के कांग्रेस अध्यक्ष पद छोड़ने की उम्मीद नहीं है। रानी की यह किताब सोनिया गांधी की बीमारी के पहले की है। अब बदले हालात में यह तो तय ही माना जा रहा है कि जल्द ही राहुल गांधी के हाथ कांग्रेस पार्टी की कमान होगी।

इस किताब की भूमिका रूस के पूर्व राष्ट्रपति मिखाइल गोर्वाचोव ने लिखी है लेकिन भूमिका से इस किताब में कुछ जुड़ता है तो वो है सिर्फ एक बड़े राजनेता का नाम।

सोनिया गांधी, एन एक्सट्रा ऑर्डिनरी लाइफ, एन इंडियन डेस्टिनी, रानी सिंह, पालग्रेव मैकमिलन, मूल्य : ` 499

आरटी-222, रॉयल टॉवर, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश-201014
ईमेल : anant-ibn@gmail-com